धर्म निर्णय

अर्थात्

सत्पथ

शब्द ॐ ही सृष्टि क्रम का उपादान कारण,
निमित्त कारण, तथा साधारण कारण है
वही स्वयं विश्व है और ईश्वर का
स्वयम् सिद्ध नाम ओं ही है।

बाबू हरिदास खण्डेलवाल मालगुज़ार पोस्ट
आफिस विजयराघोगढ़ मौज़ा सिंहवारा,
तहसील मुड़वारा ज़िला जबलपुर
द्वारा प्रकाशित।

पं० बद्रीप्रसाद पांडे ने
अभ्युदय प्रेस-प्रयाग में छापा।

संवत् १९६६

प्रथम बार १०००]　　　　मूल्य ।)

सूचीपत्र।

शुद्धा शुद्ध पत्र।

पृष्ठ ६६ लाइन ५ में खनिज की जगह मूल चाहिए।

श्रीमान् डाक्टर श्री गंगानाथ झा एम० ए०

प्रोफेसर

म्योर सेन्ट्रल कालिज प्रयाग की सम्मति।

धर्म्म निर्णय।

हमने इस ग्रन्थ को सावधान होकर पढ़ा। ग्रन्थ बड़े अनुभव और परिश्रम से लिखा गया है। ऐसे ऐसे विषयों पर एक तो ग्रन्थ ही कम पाए जाते हैं। जो पाए भी जाते हैं वे सब के सब एक पीटी लकीर पर चले जाते हैं। ऐसे अवसर पर पीटी लकीर को छोड़ कर दूसरे के लिखे ग्रन्थ का अवलम्ब त्याग कर केवल अपने अनुभव पर निर्भर होकर बाबू हरिदास जी ने इस ग्रंथ को जो रचा है उसने लोगों का बड़ा उपकार किया। इस ग्रंथ से केवल यथार्थ धर्म का उपदेश ही नहीं होता किन्तु इससे यह भी स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि स्वतः अनुभव से प्राप्त जो ज्ञान सो कैसा दृढ़ होता है।

इस ग्रंथ में चार मयूख हैं।

प्रथम में आत्मविचार, ईश्वर निरूपण, जीव निरूपण—ईश्वर जगत् का भेद निरूपण, जगन्मिथ्यामीमांसा—इनके विषय हैं। इन विषयों पर जो कुछ लिखा है उसको संक्षेप से मैं यहां लिखता हूं। ईश्वर के ज्ञान उपार्जन करने में चित्तशुद्धि परम आवश्यक है। यह शुद्धि आत्मविचार से होती है। मेरा आचार विचार कैसा है इस बात को जो अच्छी तरह विचारेगा और विचार कर शोधन करने का यत्न करेगा उसी का चित्त पवित्र होगा। दूसरों के दोषों पर न ध्यान देकर अपने दोषों को हटाना और शरीर में ममता त्यागना यही बुद्धिमान् का काम है। चित्तशुद्धि के अनन्तर गुरुभक्ति और ईश्वर प्राप्ति की इच्छा भी उत्कट रूपेण ईश्वर ज्ञान में अपेक्षित हैं।

ईश्वर शक्तिरूप हैं। कोई एक प्रकार की शक्ति नहीं। सर्व प्रकार की शक्ति की समष्टि पराकाष्ठा यही ईश्वर पद से विवक्षित है। ईश्वर

अप्रमेय है। जो स्वयं शक्तिस्वरूप है सो किसी क्रिया का कर्म वा विषय नहीं हो सकता है। और ज्ञेय वा प्रमेय जो होगा सो अवश्य ज्ञान क्रिया का कर्म होगा। 'ईश्वर का ज्ञान' वा 'ईश्वर का परिचय' इत्यादि जो शास्त्रों में पाया जाता है उसका अर्थ यह नहीं है कि ईश्वर ज्ञेय है। ईश्वर और जीव एक है। अपने को भिन्न मानने वाला जीव जब अपना यथार्थ स्वरूप समझ लेता है और ईश्वर से अपने को अभिन्न देखता है उसी को 'ईश्वर ज्ञान' हुआ ऐसा कहा जा सकता है। 'जीव' पद से इस ग्रंथ में केवल मनुष्य मात्र नहीं विवक्षित हैं। जितने पदार्थ इस संसार में हैं वे सब ईश्वरीय शक्ति के अंश हैं। और इसी अंश को जीव माना है। इसने जितने पदार्थ हैं-मनुज-जन्तु-वृक्षादि-द्रव्य-स्वर्ण-रौप्य-जल इत्यादि इत्यादि सभी 'जीव' पद से विवक्षित हैं।

जो लोग केवल मनुष्य मात्रही को अथवा जानवर मात्र को जीव मानते हैं वे लोग इस बात को भूल जाते हैं कि जैसाही ईश्वर शक्ति का अंश मनुष्य वा पशु में है उतनाही लता गुल्मादि में भी है। फिर क्या कारण कि मनुष्य को 'जीव' कहें और लता गुल्मादि नहीं। मनुस्मृति ने वृक्ष गुल्मादि को भी सजीव माना है।

'अन्तस्संज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विता.' इत्यादि।

जब ईश्वरशक्तिही का अंश सब जीव हुए तब जीव और ईश्वर में ऐक्यही रहा। क्योंकि अंश व अंशी में तत्वतः भेद नहीं है।

ईश्वरशक्ति शब्द रूपेण सब वस्तुओं में अनुस्यूत है। यदि ऐसा न होता तो वह 'वस्तु' नहीं कहलाता।

इस पर प्रायः यह आक्षेप किया जायगा कि ईश्वर को 'शक्ति' मानना उनको जड़ कहना है। परन्तु जो लोग ऐसा आक्षेप करते हैं वे यह भूल जाते हैं कि 'ज्ञान' वा 'चैतन्य' भी एक प्रकार की शक्ति ही है। यह भी कहा जा सकता है कि 'ज्ञान' वा 'चेतन्य' शक्ति से अतिरिक्त पदार्थ नहीं है। यदि यह न भी माना जाय तो भी ज्ञान एक प्रकार की शक्ति है यह निर्विवाद है। ऐसी अवस्था में यदि ईश्वर को शक्ति स्वरूप कहा तो इससे उनके महत्व में किसी तरह का ह्रास नहीं हुआ।

मतभेद मीमांसा में यह सिद्ध किया गया है कि–(१) सृष्टि असत् नहीं है। सब लोगों का अनुभव है कि संसार सत् है और साकार है। (२) सृष्टि अनीश्वर नहीं है–बिना कारण के कार्य होना असम्भव है। (३) ईश्वर साकार हैं–जगत् साकार है सो प्रत्यक्ष है। यदि जगत् साकार है तो इसका कारण भी साकार ही होना चाहिये। कारण गुण पूर्वक ही कार्य के गुण होते हैं। [यहांपर इस बात का विचार करना उचित था कि यदि ईश्वर साकार हैं तो इनमें इयत्ता अवश्य होगी बिना इयत्ता के आकार नहीं हो सकता। यदि इयत्ता हुई तो 'अनन्त' 'अपार' इत्यादि गुण कैसे हो सकते ? किन्तु ईश्वर की इयत्ता यदि हो भी तो हम लोगों को ज्ञात नहीं हो सकता।]

(४) कार्य कारण में वास्तविक भेद कुछ नहीं है। जितने सत् पदार्थ हैं वे ईश्वरीय शक्ति ही से शक्तिमान् अर्थात् विद्यामान् हैं। इससे अद्वैत शुद्ध रूप से स्थिर हुआ। (५) जगत् नश्वर नहीं है। जो वस्तु शक्तिमान् है, उसका आत्यन्तिक नाश कभी हुआ ऐसा किसी ने कभी नहीं देखा। जिसको लोग 'नाश' उत्पत्ति कहते हैं वह केवल शक्ति के आविर्भाव में ह्रास व 'वृद्धि' रूपही है। जब किसी पदार्थ में शक्ति का किञ्चित् ह्रास हुआ तो उसको लोक नष्ट मानते हैं। परन्तु यत्किंचित् ह्रास होने से शक्ति का अत्यन्त नाश हुआ ऐसा कोई भी नहीं स्वीकार कर सकता।

१८ से ३० पृष्ठ तक आर्य समाज व अन्य मत और आचारों का दोष निरूपण किया गया है। मेरी क्षुद्र बुद्धि में ऐसे हितकर ग्रंथ में दोष निरूपण न रहता तो अच्छा होता। अच्छा क्या है इसी के निरूपण से बुरा क्या है सो भी ज्ञान हो ही जाता है। तब लोगों में सर्वथा ऐक्य प्रतिपादन करने वाले ग्रंथ में परकीय दोष का उद्भावन करना उचित नहीं समझ पड़ता, विशेषतः जब परदोषोद्भावन एक प्रकार का महान दोष बतलाया गया है (पृष्ठ ४–५)। दोष निरूपण करने में अनुचितोक्तियां भी हो ही जाती हैं। इससे परदोषोद्भावन जहां जहां

किया गया है वे सब पंक्तियां यदि निकाल दी जांय तो बहुत अच्छा हो। आर्य समाज मुसलमान क्रिश्चन इत्यादि धर्मों पर आक्षेप करने में एक और दोष पड़ता है। कोई भी धर्म ऐसा नहीं है जिसमें सर्व प्रकार से दोष ही हो। कुछ उचित कुछ अनुचित सभी धर्मों में मिला हुआ है। इससे सब धर्म के मतों का यथावत् परिशीलन न करके दोषोद्भावन करना उचित नहीं। सनातन धर्म भी तो जिस प्रकार आज कल प्रचलित हो रहा है उस में भी बड़े बड़े दोष पाये जाते हैं। इनका उद्भावन न करके अन्य मतों ही का दोष निरूपण करने से ग्रंथ में पक्षपात का भी कलंक लगता है।

प्रथम मयूख में मन्तव्य का निरूपण करके द्वितीय मयूख में कर्तव्यांश का निरूपण किया गया है। प्रथम मयूख में जो कुछ मन्तव्य बतलाये गये हैं उन्हीं को उदाहरण रूपेण आचार में किस तरह काम में लाना चाहिए सो विशद रूप से बतलाया गया है। इसी प्रसंग में यह भी बतलाया गया है कि (१) 'हित' 'अनहित' 'भला' 'बुरा' 'बड़ा' 'छोटा' ये सब आपेक्षिक और काल्पनिक हैं। यथार्थ में किसी प्रकार का भेद तात्त्विक और सत्य नहीं है। (२) तृष्णा ही सब दोषों का मूल है और द्वैत कल्पना ही तृष्णा का उपादान कारण है। (३) 'धर्म' और 'कर्म' समानार्थक पद हैं। धर्म का लक्षण ३९ पृष्ठ में बतलाया गया है कि—'जिस कर्म से बहुतों को सुख प्राप्त हो उस कर्म को धर्म माना है।' इस लक्षण से यह ज्ञात होता है कि कुछ कर्म ऐसे भी हैं जिन से बहुतों को दुःख हो और जिनको इसी कारण धर्म नहीं कह सकते। ऐसी अवस्था में फिर 'धर्म' 'कर्म' इन दोनों शब्दों को पर्यायवाचक कहना बहुत ठीक नहीं जान पड़ता। (४) धार्मिक सज्जन के चित्र निरीक्षण और चरित्र परिशीलन से बड़ा उपकार होता है। इसी निरीक्षण और परिशीलन को 'मूर्ति पूजन' माना है। पृष्ठ ४२ पर 'प्राणी मात्र से प्रेम' इसी को 'मूर्ति पूजन' कहा है। (५) मूर्ति पूजन के बिना पूजन ही नहीं हो सकता। 'शकल' और 'शब्द' के अतिरिक्त वस्तु ही संसार में नहीं है। 'शकल' और 'शब्द' का पूजन 'मूर्ति पूजन' ही हुआ। मूर्ति पूजन का निरूपण इस ग्रंथ में नई रीति से किया गया है। बिना आकृति

के कोई वस्तु ही नहीं—ईश्वर भी साकार ही हैं—तब निराकार वस्तु ही नहीं—फिर निराकार पूजन कहां से हो सकता। जो पूजन होगा सो सब साकार ही का होगा। साकार ही को 'मूर्त्ति' भी कहते हैं। फिर प्राणी मात्र से प्रेम करना यदि 'मूर्त्ति पूजन' है तो फिर किस मनुष्य को इस में किसी तरह का दोष भान हो सकता है। प्रेम ही 'पूजन' हुआ तो साकार से प्रेम करना क्या अनुचित हो सकता।

तृतीय मयूख के आरम्भ में सृष्टि प्रकरण है। आकाशस्थ गर्भ से या भू गर्भ से आविर्भूत होकर जब कोई पदार्थ संयोग द्वारा 'गोचर' अर्थात् अनुभव विषय होता है तब उसकी 'सृष्टि' होती है, और जब वियोग द्वारा 'अगोचर' होता है तब उसका 'लय' होता है। यह आविर्भाव तिरोभाव सब पदार्थों का आकाश—वायु—अग्नि—जल इन चार तत्वों के द्वारा हुआ करता है। मानुषी सृष्टि सब से अन्तिम है। सब सृष्टि संयोग से और लय वियोग से होता है। इसके उदाहरण विशद रूप से पृष्ठ ५१—५७ में निरूपण किया गया है। पृष्ठ ५८ पर काल को गति रूप कहा है। यह एक प्रकार की ईश्वरीय शक्ति है। इसका चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता— अनुभव मात्र होता है। काल के कार्यों के उदाहरण अच्छी तरह पृष्ठ ५९ पर वर्णित हैं। इसी काल गति के नियम को 'प्रकृति' कहा है (पृष्ठ ६०)।

पृष्ठ ६२ से कुछ पृष्ठों तक बहुत विषयों पर स्वल्प रीति से विचार किया गया है। यथा—स्वच्छ जीव निरूपण—स्फुरण शक्ति निरूपण—विराट् निरूपण—शब्द ॐ के अनुभव का निरूपण—स्वभाव निरूपण—शक्ति—चमत्कार—आकृति—आकाश इत्यादि इत्यादि। पृ० ७९—८० पर कहा है की 'मुसल्मानों का ईश्वर अर्बी भाषा बोलने वाला हुआ'। 'अङ्गरेज़ों का ईश्वर अंगरेज़ी भाषा बोलने वाला हुआ'—इत्यादि। इसका तात्पर्य उपहास मात्र है और यह उपहास ईश्वर के प्रति नहीं परन्तु मनुष्य प्रपंच ही पर है।

अन्त में स्पष्ट रूप से कहा है कि अनेक मतों में जो भेद पाए जाते हैं सो प्रपंच मूलक हैं। वास्तविक तत्व सब मतों के अन्तर्गत एक ही प्रीति व स्नेह है। इस में कुछ सन्देह नहीं 'भक्तिरेव पारमार्थिकं बीजम्' 'सा पराऽनुरक्तिरीश्वरे'।

सब से अन्त में 'प्राणीमात्र का धर्म' और 'गुरूपदेश' इन विषयों पर बहुत अच्छी तरह विचार किया गया है। इन विषयों पर जो कुछ मन्तव्य बाबू साहब ने अपने अनुभव से प्राप्त की है भो बहुत प्रशंसनीय है। और इनका वर्णन और उपपादन ऐसी उत्तम रीति से किया गया है कि इनका उत्तर होना मुझे दुर्ग मालूम पड़ता है। पर मेरी आशा है कि परम अद्वैत सिद्धान्त पर तो किसी को हृदय से अरुचि हो ही नहीं सकती और यही परमाद्वैत सिद्धान्त इस ग्रन्थ का मुख्य प्रतिपाद्य है। परमाद्वैत सिद्धान्त की जितनी युक्तियां हैं सब स्वरूपतः निरुत्तर हैं।

इलाहाबाद १७ ७ ०९

श्री गंगानाथ झा,
प्रोफेसर म्योर सेन्ट्रल कालेज।





बाबू हरिदास खडेलवाल

इण्डियन प्रेस प्रयाग।

भूमिका ।

धर्म के आधार में ही मनुष्य मात्र का सुख प्रतिष्ठित है। इससे धर्म की मीमांसा और उसके प्रचार के लिये नाना शास्त्र बने हैं। सूचनामें लिखा गया है कि मनुष्य जाति का धर्म एक है पर अनादि काल से धर्म के विषय में विवाद चले आते हैं। सब देशों में सभाएं हुआ करती हैं पर विवाद शान्त नहीं होते। इसका कारण यह है कि जितने जातीय अथवा कौमी मज़हब हैं सब में स्वार्थ तत्परता मिश्रित है। इससे धर्म का निर्णय सुगम नहीं है। सभी अपनी २ जाति और मज़हब की बढ़ती और अन्य सब की हानि करने में प्रवृत्त रहते हैं तथा अन्य २ धूर्त धर्म के मिष से अनाचार वृद्धि कर रहे हैं। इससे धर्म में अश्रद्धा होती जाती है। तथा जैसे २ धर्म में ग्लानि बढ़ती है वैसे २ ही देश की अवनति होती है। यह सार्वभौम सिद्धान्त है। धर्म से तथा स्वार्थ तत्परता से अत्यन्त विरोध है, जैसे भक्ष्य भक्षक से विरोध रहता है। आप्तों ने मनुष्य मात्र का निष्काम कर्म अर्थात् स्वार्थ त्याग ही मुख्य धर्म माना है। द्वैतता की दृष्टि को ही अधर्म माना है। "एकं ब्रह्म द्वितीयो नास्ति" अर्थात् अद्वैत सिद्धान्त को ही निश्चित किया है। उसकी उपासना निष्काम कर्म

तथा स्वार्थ त्याग को ही कहा है जिसमें प्राणी मात्र का सामान्य हित साधन हो। उस धर्म को निष्पक्षता से जिन्होंने बतलाया है वे आप्त माने गये हैं। उसी धर्म को सत्पथ शब्द से कहा है। उस सत्पथ का अनुवाद "धर्म निर्णय" नामक ग्रंथ देशभक्तों की सेवा में भेंट करता हूं इसकी सत्यता की पुष्टि में सब भाषा की फ़िलासफ़ी और सब प्रकार की युक्ति व तर्क साक्षी दे रहे हैं तथा लोक संमतपूर्णतया साक्षी दे रहा है कि "नास्ति तत्वमतः परम्" अर्थात् इससे परे और तत्व नहीं है। आशा करता हूं कि सब मत के विद्वान् जो स्वच्छ देश भक्त व देशहितेच्छु हैं निःशंक हो इस प्रकाश रूप धर्म संस्था के मार्ग में एक मत हो प्रवेश करेंगे और धर्म प्रवाह में सदैव एक मत हो स्नान करेंगे और मतमतान्तरों के झगड़े तथा धर्म का निश्चय निर्विवाद हुआ स्वीकार करेंगे अर्थात् जाति भेद अवस्था भेद पर दृष्टि न देकर एक दूसरे के सहायवान व प्रीतिपात्र होंगे। तभी देश का हित व देश की उन्नति होगी। अन्यथा नहीं। इस ग्रन्थ में चार मयूख हैं। उनमें ये विषय हैं।

पहिला मयूख।

१ आत्मविचार। २ ईश्वर निरूपण। ३ जीव निरूपण। ४ जगत-ईश्वर-ऐक्य-निरूपण। ५ मत समीक्षा और निर्णय :-

(१) सृष्टि के असत्व का खण्डन। (२) अनीश्वरवादी खण्डन। (३) निराकारवादी खण्डन। (४) द्वैतवादी खण्डन। (५) जगत्-नश्वरवादी खण्डन। (६) आर्य्यसमाज सिद्धान्त खण्डन। (७) अन्य मत समीक्षा। (८) दम्भ धर्म विवेचन। (९) मांस भक्ष दोष।

दूसरा मयूख।

१ भेद, अर्थात् द्वैत भेद कल्पना का मिथ्यात्व निरूपण। २ धर्म निरूपण। ३ मूर्त्तिपूजा निरूपण।

तीसरा मयूख।

१ सृष्टिक्रमनिरूपण—

(१) संयोग। (२) कालक्रम। (३) प्रकृति।

२ तत्वज्ञान—

(१) स्वच्छ वीज निरूपण। (२) स्फुरण शक्ति निरूपण। (३) विराट निरूपण। (४) ओंकार निरूपण। (५) स्वर-आकृति-ऐक्य निरूपण। (६) आकृति वर्णन। (७) आकाश वर्णन।

३ मानुष प्रपञ्च।

चौथा मयूख।

१ गुरूपदेश। २ मानव धर्म। ३ ईश्वर स्तुति और माहात्म्य।

बाबू हरीदास खंडेलवाल, मालगुज़ार,

मौज़ा सिंहवारा, परगना विजयराघोगढ़; तहसील मुड़वारा,

ज़िला जबलपूर।

सविनय प्रार्थना।

(१) देशभक्त अथवा देश हितेच्छु सज्जनों को ईश्वर भक्त मानकर मैं प्रार्थना करता हूं।

मैं अपढ़ हूं और यह विषय ऐसा अत्यन्त गहन है कि जिसके बोध व विज्ञान के लिये सैकड़ों मन के भार की भिन्न २ मतों की धर्म पुस्तकें हैं। मैं अत्यन्त यत्न कर रहा हूं कि यह लेख सरल शैली सरल शब्दों में निर्माण हो कि सुगमता से सभी विद्वान समझ सकें किन्तु इस विषय को स्पष्ट बोध कराने के लिये अनुकूल शब्द ही प्रचलित नहीं हैं और सब मतों का निर्णय करके एकता दिखलाना भी सुगम नहीं है। इससे मैं क्षमा किये जाने योग्य हूं-और विनय करता हूं कि शब्द दोष या शैली दोष जो जिस प्रसंग में ज्ञात हों कृपया संभाल दें और इस अनुवाद में जो पुनरुक्ति दोष प्रायः है इस मतलब से है कि जिसमें सब प्रसंगों का खुलासा भाव समझ में आ जावे।

(२) इस मेरे परिश्रम का महानुभावों से मैं जो पुरस्कार पाने का आकांक्षी हूं। वह पुरस्कार यह है कि इस ग्रन्थ का शुद्ध व सरल शब्द व शैली में छोटी बड़ी कक्षा के अधिकारियों के लिये अपनी २

भाषा की छोटी बड़ी पुस्तकों में उल्था किया जावे और जिस प्रसंग को अधिक पुष्ट करने की आवश्यकता हो वह किया जावे कि जिसमें सुगमता से Middle वाला भी समझ सके और Entrance, F. A, B. A, M. A. विद्वान भी समझ सकें और जिस उचित युक्ति व उपाय से इसका प्रचार भारतवर्ष में हो वह यत्न करें कि मनुष्य मात्र धर्म की छाया में सुख प्राप्त करे। इत्यलम्।



सूचना।

धर्म वह है जिससे जगत् का हित हो। विद्या, तपस्या और सद्वृत्त की सम्पत्ति जिन ऋषियों में थी, और जिन्होंने लोभ से या मोह से या अहंकार से नहीं किन्तु लोक के हित के लिये शास्त्रों को बनाया है, उनका सिखाया हुआ धर्म भी वही है जिससे जगत् का हित हो। धर्म के विषय में जो मत भेद हैं वे व्याख्या करने वालों या समझने वालों की मति के भ्रम से हैं। टीकाकार बहुधा अर्थ को शब्द जाल से ढक देते हैं और कभी २ उलटा भी दिखा देते है। एक विद्वान ने लिखा है-

दुर्बोधं यदतीव तद्विजहति स्पष्टार्थमित्युक्तिभिः
स्पष्टार्थेष्वतिविस्तृतिं विदधति व्यर्थैःसमासादिकैः।
स्वस्थानेऽनुपयोगिभिश्च बहुभिर्जल्पैर्भ्रमं तन्वते
श्रोतॄणामिति वस्तुविप्लवकृतः सर्वेपिटीकाकृतः ॥

अर्थ-जो बात समझ में नहीं आती उसको टीकाकार यह कह कर छोड़ देते हैं कि इसका अर्थ स्पष्ट है। जिसका अर्थ स्पष्ट है उसको व्यर्थ समासादिकों का प्रयोग करके विस्तार से समझाते हैं। जिन बातों से कोई प्रयोजन नहीं है उनको लिख कर भ्रम को उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार टीकाकार पढ़ने या सुनने वालों के लिये ग्रन्थ के अर्थ को डुबा देते हैं। धर्म के जिज्ञासु

को आचार्य्यों के आशय का और लोक के हित का विचार करके विज्ञान की दृष्टि से धर्म तत्व का जानना उचित है।

इस ग्रन्थ का उद्देश्य यह सिद्ध करना है कि मनुष्य जाति भर का धर्म्म एक है। और ईश्वर साकार है। इन साध्यों के सिद्ध करने में कई शब्दों का प्रयोग किया गया है जिनका लोक में प्रचलित अर्थ कदाचित् और हो पर इस ग्रन्थ में उनका अर्थ निम्नलिखित है।

१-"आकृति" इस शब्द से समस्त पदार्थों की शकलों को समझना चाहिये जो देख पड़ते हैं, खाये जाते हैं, पीये जाते हैं, सूंघे जाते हैं, और स्पर्श होते हैं और सूक्ष्म रूप के द्रव्य जो युक्ति से सिद्ध होते हैं अथवा जिनकी पहिचान है जैसे वायु, परमाणु।

२-"लोक-सम्मत"-धर्म सम्बन्ध में जो सार्वभौम मन्तव्य है उसको "लोक सम्मत" शब्द से कहा है।

३-"शब्द"-सब भांति की आवाज़ जो सुन पड़ती हैं यथा स्वर, ध्वनि, नाद, वार्तालाप के शब्द और गरजना इत्यादि इन सब आवाज़ों को "शब्द" से बोध कराया है।

४-"शब्द-व्यापार"-जो वस्तु सम्बन्धी संज्ञा हैं, जो धर्म सम्बन्धी संज्ञा हैं, जो व्यवहार सम्बन्धी संज्ञा हैं, उन सब को "शब्द-व्यापार" से बोध कराया है।

अथ मंगलाचरणम् ।

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः ।
गुरुःसाक्षात् परं ब्रह्म तस्मै श्रीगुरुवे नमः ॥

हरिः ॐ

हे वाणी ॐ तुझको ही सब आप्तों ने ब्रह्मांड का स्थान निश्चय किया है, और यह विश्व तेरा ही लीला स्थल है, अर्थात् तूही शक्तिरूप से सारे विश्व का कार्य्य कर रहा है, तेरे अतिरिक्त और कुछ देख पड़ता ही नहीं, तेरी किस शब्द से स्तुति करूं, किस पदार्थ से उपमा दूं, किस वस्तु से पूजन करूं, जब कि सब तूही तू है, हे अलौकिक प्रभा, हे अमोघ शक्ति, हे नित्य, हे सत्य, इस तेरे व्यवहार लीला को बारम्बार नमस्कार करता हूं, और प्रार्थना करता हूं कि मुझे इस ग्रन्थ को पूरा करने की शक्ति दे-

असितगिरिसमं स्यात् कज्जलं सिन्धुपात्रे,
सुरतरुवरशाखा लेखनी पत्र मुर्वी ।
लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालम्,
तदपितवगुणानामीश पारं न याति ॥ १ ॥

आत्मविचार।

उच्च श्रेणी के मनुष्यों का यह अनुभव है कि अपने अंतःकरण की प्रवृत्तियों पर बारंबार दृष्टि डालने का दृढ़ अभ्यास करने से ईश्वर का साक्षात्कार होता है। आप्तों ने लिखा भी है कि अपना अनुभव ही ईश्वर के होने का एक मात्र प्रमाण है। "स्वानुभूत्यैकमानाय" "स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते"। और जिन्होंने ईश्वर के गुण कर्म्म स्वभाव का अनुभव किया है उन्होंने अपने आभ्यन्तरिक अनुभव से ही किया है। जैसे भूख, प्यास, काम इत्यादि शारीरिक धर्मों का बोध इच्छा की प्रबलता से ही होता है, कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय से नहीं होता, वैसे ही ईश्वर दर्शन भी चर्म चक्षु से नहीं होता। इच्छा की प्रबलता व प्रेरणा से उत्साह उत्पन्न होता है। उस उत्साह से मनुष्य अभीष्ट सिद्धि का प्रयत्न करता है। जो मन्दमति ईश्वर के होने में शंका करते हैं और कहते हैं कि हमको आंख से दिखा दो, उनके लिए सरल उत्तर यह है कि यदि तुमको प्रबल इच्छा उसके देखने की होगी तो तुम स्वयं उसको देख लोगे। यदि तुम में इच्छा नहीं है तो वह तुमको नहीं दिखाई देगा। किसी ने कहा भी है कि-
"क्या तू खोजै फिरता वन्दा वह तो तेरे पास है"।

"जिन ढूढ़ा तिन पाइयां गहरे पानी पैठ"

यथा रोगी को अरुचि के कारण उत्तमोत्तम भोजन भी प्रिय नहीं लगता और इच्छा के विघात से स्त्री अरुचिकर हो जाती है, यथा इच्छा की प्रबलता से ही कामादि की जागृति और भूख प्यास के निवारण में प्रवृत्ति होती है उसी प्रकार श्रद्धा के प्रबल होने से ईश्वर भी जाना जाता है। "श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्"।

जिस प्रकार काम की प्रबल इच्छा जागृत होने पर भूख, प्यास, नीति, अनीति, लज्जा, भय, सब भूल जाते हैं उसी प्रकार ईश्वर के दर्शन की प्रबल इच्छा जागृत होने पर संसार भूल जाता है और विषवत् प्रतीत होने लगता है। साधारण मनुष्यों की तो क्या गणना है बड़े२ राज राजेश्वरों का यह इतिहास विद्यमान है कि जब उनको ईश्वर के दर्शन की प्रबल श्रद्धा हुई तो राजपाट, पुत्र, कलत्र, त्याग कर उसी आनन्द में निमग्न हो गए, और इससे उन्होंने जो अनुपम सुख पाया उसका वर्णन ही नहीं हो सकता। उस आनन्द के लिये ऋषिराजों ने यही कह कर छोड़ दिया है कि "एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवंति" अर्थात् इसी ब्रह्मानन्द की थोड़ी सी कला का और प्राणी अनुभव करते हैं। यदि किसी को उसके दर्शन की प्रबल इच्छा हो तो उसके लिये एक भाषा कवि ने क्या ही उत्तम कहा है कि-

"जो दर्शन कीन्हा चहिए तो दर्पण माजत रहिए।
जो दर्पण लग गई काई तो दर्शन किया न जाई॥"

मनुष्य का चित्त स्फटिक मणि के समान है। जैसा आचार, विचार, भक्ष्य, भोज्य, संग, कुसंग, रहन, सहन, होता है उसी प्रकार उसकी बुद्धि स्वच्छ अथवा मलिन होती है। इसी लिए लिखा है कि "आचारः प्रथमो धर्म्मः"। यदि मनुष्य अभक्ष्य मद्यमांसादि का सेवन न करके उत्तम शुद्ध पदार्थों का सेवन करेगा तथा महज्जनों की संगति में रहेगा तो उसकी बुद्धि शुद्ध विचारों से निर्म्मल हो जायगी और वह ईश्वर के दर्शन की प्रबल श्रद्धा जागृत होने से अनुपम सुख लाभ करेगा। यही मुख्य आत्मविचार है।

आत्मविचार ही तप है। और बुद्धि के निर्मल हुए बिना ईश्वर का निश्चय, तथा धर्म का बोध, और सुख की प्राप्ति नहीं होती है, क्योंकि--

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्॥

कृष्ण भगवान् कहते हैं कि अयुक्त की बुद्धि ईश्वर में दृढ़ नहीं होती और न अयुक्त की भावना यथार्थ होती है। एवं भावना के बिना शान्ति और शान्ति के बिना सुख नहीं होता है। बिना विचार व बुद्धि के केवल ग्रन्थों को पढ़ कर ईश्वर का ज्ञान नहीं हो सकता-

यथा खरश्चन्दनभारवाही भारस्य वेत्ता न तु चन्दनस्य।
एवंहि शास्त्राणि बहून्यधीत्य चार्थेषुमूढाः खरवद्वहन्ति"

यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा शास्त्रं तस्य करोति किम् ।
लोचनानां विहीनस्य दर्पणः किं करिष्यति ॥

केवल तप, दान व यज्ञ करके चाहे कि ईश्वर का ज्ञान हो जाय सो भी कदापि नहीं होता, क्योंकि लिखा है--

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥
भक्त्यात्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥

इस लिए कहा जा सकता है कि विना देशभक्त हुए तथा विना विचार का अवलम्बन किये बुद्धि की निर्मलता नहीं हो सकती है । उसको जिसने जाना विचार ही द्वारा जाना और ग्रहण किया। उसके जानने का और उपाय नहीं है; "नान्यः पंथा विद्यते ऽयनाय" ।

ईश्वर के जानने की सुगम रीति यही है कि अपने को देखना सीखे; जिस भांति दूसरे को धनी, निर्धन, गुणी, निर्गुण, सभ्य, असभ्य देखता है, उसी भांति अपने को देखे कि मैं कैसा हूं; अर्थात् मुझसे दूसरों का क्या उपकार या अपकार बनता है; तथा मेरे आचार विचार कैसे हैं। यह न समझे कि अपने को जानना सुगम है । अपने ही को पहिचानना कठिन है । जिसने अपने को पहचान लिया वह ईश्वर को तुरन्त ही पहिचान जाता है। धुरन्धर विद्वानों में भी विरला ही अपने

को जानने वाला होता है। लोग प्रायः अपने दोषों को न देख कर औरों के दोषों को लक्ष बनाते हैं पर मनुष्य का कर्तव्य है कि वह अपने दोषों को देखे। प्रायः सभी अपने दुर्गुणों से अचेत रहते हैं; दूसरे ही के गुण दोषों को देखा करते हैं। जो अपने गुण दोषों को जानने वाला हो जाता है वह शीघ्र ही ईश्वर को साक्षात्कार करता है। सब मत और उपासनाओं के विद्वानों की मंडलियों में ईश्वर व धर्म के विषय में विवाद रहता है; और सब मत भी पृथक् २ हैं; उनका निर्विवाद निर्णय करने व सत्पथ का लक्ष्य कराने वाले ब्रह्मविद्या के महावाक्य हैं, जिनके उपासक, योगिराज, महर्षि व राजर्षि हुए हैं। उनका आचार विचार व उनकी बताई हुई उपासना का नाम सत्पथ है; एवं उन्हीं के निश्चित निर्विवाद सिद्धान्त का ग्रंथ "धर्म निर्णय" नामक यह निर्माण हुआ है।

अथ ईश्वर निरूपणम्।

अलौकिक प्रभा रूप अमोघ शक्ति जो नित्य एक रस है, जो न्यूनाधिक नहीं होती, तथा जिस शक्ति में अप्रमेयता है तथा जिसके समान सूक्ष्म से सूक्ष्म तथा दीर्घ से दीर्घ अन्य रूप नहीं है, उस अलौकिक प्रभा रूप शक्ति की संज्ञा ईश्वर है। इसी को पुरुष, हिरण्यगर्भ, विराट्, ब्रह्म, प्रणव, चैतन्य, शब्द, आत्मा, रूह, खुदा,

निराकार, निर्गुण, निर्विकार, ज्ञान, आदि नाना शब्दों से बोध कराया है और ईश्वर को सर्वज्ञ व सर्व-शक्तिमान् माना है तथा वह सूक्ष्म से सूक्ष्म रूप स्फुरती वाणी ॐ है; स्फुरण का स्थूल रूप शब्द है। और शब्द का सूक्ष्म से सूक्ष्म रूप परमाणु है। प्रमाण-

आत्मेरयति विवक्षुश्चित्तं तद्देव वह्निमाहन्ति।
सम्प्रेरयते दीप्त्या ब्रह्मग्रन्थिस्थितं मरुतम् ॥
ऊर्ध्वं विचरन् क्रमतो नाभि हृदय कंठ मूर्ध वक्त्रे सः।
अति सूक्ष्मादिक संज्ञान् नादांस्तनुतेऽत्रगानार्हाः ॥

तथा दीर्घ से दीर्घ बड़े से बड़ा रूप आकाश व विश्व है; प्रमाण–"अणोरणीयान् महतो महीयान्" अर्थात् ईश्वर का रूप सूक्ष्म से सूक्ष्म और स्थूल से स्थूल है। उसकी इयत्ता अर्थात् परिमाण नहीं है। उसके पूर्ण रूप का बोध मनुष्य को परिमित इन्द्रिय शक्ति कदापि ग्रहण नहीं कर सकती। जैसे छोटे भाण्ड में बड़ी वस्तु नहीं समाती व छोटी चिमटी से बड़े पदार्थ का ग्रहण नहीं होता तथा त्रिसरेणु के सदृश सूक्ष्म रूप देख नहीं पड़ता है, तैसे ही आकाश की समस्त दीर्घता प्रतीत नहीं होती। दृष्टि की पहुंच तक ही उसकी सीमा दिखाई देती है, तथा विश्व कितना बड़ा व दीर्घ है; व विश्व में कौन २ वस्तु हैं, किसी को अद्यावधि थाह नहीं मिली। जो मनुष्य उद्योग से ढूंढ़ता है उसको नवीन व अलभ्य वस्तु प्राप्त हुआ करती हैं। जैसे रेडियम्

आदि पदार्थ तथा नये २ टापू व नगर जैसे अमेरिका तथा नाना रूप व जाति के पशु पक्षी खोज करने से पाए गए तथा Airship और लड़ाई के विचित्र २ शस्त्र कल्पना द्वारा बनाए गए। तात्पर्य्य यह है कि सम्पूर्ण वस्तु विश्व में ही हैं। पर नयी बातें और नयी वस्तु बिरलों को ही सूझती हैं। सूझने पर भी जब तक तन, मन, धन से यत्न नहीं किया जाता है तब तक आविष्कारों में सफलता प्राप्त नहीं होती है। इसी प्रकार जो ईश्वर के खोज में तत्पर होता है उसको ईश्वर प्रकाश व गोचर होता है। शक्ति को ईश्वर माना है। शक्ति का स्थूल रूप ही दृष्टिगोचर होता है। शक्ति को बुद्धि से परे माना है यथा-"यो बुद्धेः परतस्तुसः"। शक्ति का प्रभाव अनुभव से ज्ञात होता है जैसे राज्य शक्ति तथा रेडियम् के प्रभाव का परिचय अनुभव से होता है।

अथ जीव निरूपण।

जिन वस्तुओं में शक्ति की तथा विस्तृत और स्थूलाकार होने की सीमा है और जो सूक्ष्म से स्थूलाकार होने पर दृष्टिगोचर होते हैं और स्थूलाकार से सूक्ष्म रूप ही अदृष्ट हो जाते हैं तथा अन्य की शक्ति से शक्तिमान् हुए हैं व होते हैं; अथवा जिनका प्रति क्षण रूपान्तर हुआ करता है और जिनकी शक्ति संयोग से प्रतिक्षण न्यूनाधिक हुआ करती है उन वस्तुओं की

संज्ञा जीव है। उदाहरण:—सूर्य का तेज कुहिरा, बादल, व शीत से और रात्रि हो जाने से न्यून हो जाता है, चन्द्रमा की शक्ति दिन को, वायु की शक्ति निस्पन्दता में, अग्नि की शक्ति बुझ जाने में, जल की शक्ति शुष्क हो जाने से, और भूमि की शक्ति डूब जाने से कुंठित हो जाती है। इन उदाहरणों से सिद्ध है कि ये स्वयम् शक्ति रूप नहीं हैं, ईश्वरीय शक्ति से ही शक्तिमान् और प्रेरित हैं। इसी प्रकार पृथ्वी के सम्पर्ण पदार्थों की शक्ति अनुकूल अर्थात् पोषक पदार्थ पाने से बढ़ती और प्रतिकूल अर्थात् शोषक पदार्थ पाने से घटती है। तात्पर्य्य यह है कि सम्पूर्ण पदार्थ और जीव अन्य शक्ति से शक्तिमान् होते हैं; जैसे मनुष्य पोषक पदार्थ के भोजन व राजशक्ति प्राप्ति से शक्तिमान् होते हैं; राजा प्रजा की शक्ति से शक्तिमान् होते हैं। सारांश यह कि प्रेरक शक्ति ईश्वर है, जो प्रेरित हैं उनकी संज्ञा जीव है।

अथ ईश्वर-जगत्-ऐक्य निरूपणम्।

ईश्वर शक्ति रूप और जगत् शब्द व आकृति रूप सिद्ध व गोचर है। सम्पूर्ण विश्व की वस्तुओं का बोध नाम, रूप, गुण, स्वभाव, या तो आकृति द्वारा या शब्द द्वारा होता है।

जितनी संज्ञा हैं वे सब शब्द हैं और शब्द स्वर तथा व्यंजन से उत्पन्न होते हैं जैसे सम्पूर्ण विषय के

लेख अक्षर वर्ण संज्ञा कल्पना करके लिखे गए हैं, तथा वे स्वकीय चिन्ह से ही आत्मीय बोध कराते हैं; और सम्पूर्ण प्रकार की वस्तुओं की जाति, नाम, रूप, गुण स्वभाव, अवस्था का बोध उनकी आकृति तथा लक्षण से होता है; इससे सम्पूर्ण विश्व आकृति रूप सिद्ध है। जैसे मिट्टी के रज ही से पत्थर, चूना, सुरखी, ईंट, बन के बड़े २ दुर्ग बनते हैं; वैसे ही शब्द से संयोग क्रिया द्वारा परमाणु उत्पन्न हुआ और परमाणु से विश्व का प्रादुर्भाव हुआ। अथवा यों मानो कि यावत् वस्तु का बोध शब्द से ही कराया जाता है। तथा सब भाषाओं में जो २ ईश्वर के नाम हैं सब शब्दमय हैं; और सम्पूर्ण वस्तुओं की जो संज्ञा है वह भी शब्दमयी हैं, और शब्द का मूल स्वर ही सिद्ध है तथा स्वरों का आदि अकार है। इसी-से आप्तों ने ईश्वर को ॐ नाम से पुकारा है और "सोऽहम्" कहा है। ईश्वर को अव्याकृत रूप में निर्गुण और व्याकृत रूप में सगुण माना है अर्थात् ईश्वर को अव्यक्त और जीव को व्यक्त कहा है और उसी की यह जगत् व्यवहार लीला निश्चय किया है। प्रमाण-

"ॐ मित्येकाक्षरम् ब्रह्म" ॥ "तस्य वाचकः प्रणवः ॥ तज्जपस्तिदर्थ भावनम्" ॥

हरिरेव जगत् जगदेव हरिः ॥

इस "आशय" को अंगरेज् विद्वान् ने इस शैली में कहा है "God in nature and nature in God" इसके प्रमाण में वेद गर्ज रहा है ॥

ततो विराडजायत विराजो ऽअधि पूरुषः ।
सजातो ऽअत्यरिच्यत पश्चाद्भूमि मथोपुरः ॥
तस्माद्यज्ञात् सर्व्व हुतः सम्भृतम्पृषदाज्यम् ।
पशूँस्ताँश्चक्रे व्वायव्यामारण्या ग्राम्याश्चये ॥
तस्माद्यज्ञात्सर्व हुतऽऋचः सामानि जज्ञिरे ।
छन्दाᳬंसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥

पुरुषान्न परंकिंचित् सा काष्ठा सा परागतिः ।
सदेवसौम्येदमग्र आसीत्
एकमेवाद्वितीयमिति ॥

ईशावास्यमिदᳬं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथ मागृधः कस्यस्विद्धनम् ॥
यस्तु सर्वानि भूतान्यात्मन्येवानु पश्यति ।
सर्व भूतेषु चात्मान न्ततो न विजुगुप्सते ॥

"एकोहम् बहुस्यामि"
"एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति ।"
सर्वं खल्विदं ब्रह्म । नेहनानास्ति किञ्चन ॥

शक्ति ही शब्द रूप से सम्पूर्ण विश्व की आकृति में हृदयस्थ हुआ है । शब्द को ही आत्मा व रूह माना है, और वह प्राणियों में शब्द व धातु और मूल में ध्वनि के आवाज़ से व्याप रहा है । तथा अन्य आप्तों ने भी जगत् को अक्षरमय ही कहा है ।

इति जगदेश्वर सिद्धि ।

अथ मत भेद मीमांसा।

अर्थात् धर्म विषयक मत भेद का समाधान।

सृष्टि के असत्त्व का खण्डन, जो विद्वज्जन सृष्टि नहीं मानते अर्थात् जगत् को केवल स्मरण या ख्याल प्रतीत करते हैं; तिनका खण्डन।

(१) बालक प्रथम जन्मता है और रोता है; तथा आकृतिवान् वस्तु व पदार्थों को देखता है; पश्चात् मा बाप को पहचानता है, और उन आकृतिवान् वस्तु व पदार्थों में लक्ष कराने से भला बुरा प्रतीत करता है; व शब्द व्यापार सीखता है।

(२) अन्य प्राणी जाति जिनमें व्यक्त वाणी का व्यापार नहीं है वे भी जन्म के पश्चात् स्वयमेव अपनी जाति की बोली बोलते और आकृतिवान् वस्तु व पदार्थ को देखते हैं। तथा जन्म से मरण पर्य्यन्त सब का आकृतिवान वस्तुओं में ही उपयोग तथा भोग होता है। इससे सृष्टि आकृतिमय तथा शब्दमय और अनादि सिद्ध है। प्रमाण—"यथा पूर्वमकल्पयत्"

(३) जो लोग इस बात को कहा करते हैं कि सृष्टि कोई चीज़ नहीं है, उन्हें इस बात का स्मरण रखना चाहिए कि इस संसार में जब कोई शक्ल होती है तब उसका नाम होता है। जैसे जब रेल का इञ्जन बन कर तयार हो गया तब लोगों ने उसे इञ्जन के नाम से विख्यात किया।

अथ अनीश्वर वाद खण्डनम् ।

जो ईश्वर नहीं मानते अथवा सृष्टि क्रम का कारण नहीं मानते, उनका खण्डन ।

विश्व में बिना कारण के कार्य का होना नहीं देख पड़ता, जो निमित्त को कारण मानते हैं सो निमित्त कारण भी वस्तु के संयोग से ही उत्पन्न होता है; इससे सिद्ध हुआ कि वस्तु मुख्य है। उसी वस्तु को नाना शब्दों से पुकारा है। हिरण्यगर्भ, शक्ति, ब्रह्म, आदि, किन्तु ये सब शब्द हैं तिससे मुख्य वस्तु शब्द ही है ॥ प्रमाण ॥ वेद में खम् ब्रह्म व शब्द ब्रह्म दोनों आये हैं;

निराकार वाद खडन।

कारण कार्य एक रूप, एक गुण, एक स्वभाव होता है; और कारण ही कारण, कार्य दोनों रूप होते रहते हैं; यथा वीज वृक्ष व पिता पुत्र । यह विश्वासाकार ईश्वर का फोटो प्रत्यक्ष है । निराकार कोई वस्तु नहीं है, अथवा निराकार से साकार उत्पन्न होता है, ऐसा कोई प्रमाण नहीं है । यावत् पहिचान है वह साकार वस्तु की है । जो मनुष्य ईश्वर के सत्ता को स्थित करता है सो इसी से करता है कि विश्व साकार है; तिससे सिद्ध हुआ कि ईश्वर साकार है; यद्यपि वह दृष्टि से अदृष्ट है परन्तु युक्ति से सिद्ध होता है। जैसे हवा व प्लेग के कीड़े अदृष्ट हैं परन्तु युक्ति से सिद्ध होते हैं । निराकार यह पहिचान

किसी युक्ति से सिद्ध नहीं होती और यदि सिद्ध है तो वह साकार है ।

अथ द्वैतवाद खंडनम् ।

जो विद्वान् ईश्वर व जीव में पृथकता घटित करते हैं अर्थात् ईश्वर नित्य व जीव अथवा जगत् को नाशवान् प्रतीत करते हैं—तिनका खण्डन ।

जगत् से भिन्न ईश्वर की सिद्धी नहीं तथा जगत् ईश्वर दोनों शब्द वाच्य भेद हैं लक्ष भेद नहीं हैं । कार्य कारण एक रूप, एक गुण, एक स्वभाव होते हैं; और जगत् अथवा जीव ईश्वर का कार्य रूप सिद्ध है; तथा ईश्वर जीव एक रूप हैं; अर्थात् दोनों साकार हैं; ईश्वर, जीव दोनों में एक प्रकार का गुण है; अर्थात् दोनों बीज रूप और शक्ति रूप हैं; ईश्वर जीव दोनों में एक स्वभाव है; अर्थात् दोनों नित्य और कार्यकारण रूप हैं । इन दोनों में राजा प्रजावत् सम्बन्ध हैं । राजा की शक्ति से ही प्रधान मन्त्री से लेकर सब से छोटे कर्मचारी तकअपने २ पद के अनुरूप शक्तिमान् । हैं उसी प्रकार सूर्य्य से लेकर तृण पर्य्यंत सम्पूर्ण पदार्थ अपने २ कृत्य के अनुरूप ईश्वर की शक्ति से शक्तिमान् हैं। जैसे न्यायशील राजा के रक्षार्थ नियम प्रजा में छोटे बड़ों के लिये समान होते हैं वैसे ही ईश्वर का जगतपालन नियम सब के लिये एक है । प्रमाण—

यथा सर्वज्ञ मा मानो यथा वृष्टिः पयोभुवः ।
तथा भगवतो दृष्टिः सर्व सत्वानुकम्पिनः ॥

जैसे प्रजा की तुलना से राजा सर्वज्ञ व शक्तिमान् है; उसी प्रकार जीव की तुलना से ईश्वर सर्वज्ञ व सर्वशक्तिमान् है। जैसे राजा रक्षा करके प्रजा से वन्दनीय होता है ; वैसे ही ईश्वर विश्व का आधार होने से मनुष्य से वन्दनीय हुआ है। जिस प्रकार प्रजा को राजा की आज्ञा मानने से श्री, यश, और शक्ति प्राप्त होती है; उसी प्रकार ईश्वर के सच्चे उपासक होने से अर्थात् देश सेवा करने से मनुष्य को श्री, यश, शक्ति और निर्भयता प्राप्त होती है। अर्थात् जैसा अच्छा बुरा कर्म करता है तैसा ही फल भोगता है; कहावत है कि– "कर्म प्रधान विश्व करि राखा। जो जस करै सो तस फल चाखा"। और ईश्वर की मुख्य उपासना देशभक्ति अथवा परोपकार ही है; जिस प्रकार राजा की आज्ञा भंग करने वाले को दंड मिलता है उसी प्रकार लोक का अपकार करने वाले को अर्थात् ईश्वर न मानने वाले को अथवा असत्यावलम्बी को अनादर, मानसिक व्यथा, शारीरिक रोग, और राजदंडादिक मिला करते हैं; अर्थात् नाना प्रकार के क्लेश में ही उसका जन्म व्यतीत होता है॥

नमामि दुष्कृत तनु प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
मायया पहृतज्ञाना आसुरं भाव माश्रिताः॥ इतिगीतायां

जगत् नश्वरवादी खण्डन।

"जो विद्वान् जगत् को नाशवान् कहते हैं उनका खण्डन"।

१-प्रश्न यह है कि कौन वस्तु पहिले पैदा होती थी, और वह अब नहीं पैदा होती, अथवा कौन वस्तु पहिले रही और अब नहीं है। ऐसा किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता। तब जगत् का नाश किस युक्ति से सिद्ध करते हैं।

२-यह सिद्ध कर चुके हैं कि जगत् आकृति व शब्द मय ही है, अन्य वस्तु नहीं है। यह भी सिद्ध कर चुके हैं कि सम्पूर्ण वस्तु का बीज सूक्ष्म रूप से स्थूल रूप हो कर दृष्टिगोचर होता है, और स्थूल रूप से सूक्ष्म रूप हो कर अगोचर हो जाता है। अर्थात् आकृति शब्द नित्य एक रस स्थित है। समस्त वस्तु की शकलों ही को सृष्टि कहते हैं उन वस्तुओं में ही शब्द स्थित हुआ है। तृण से सूर्य पर्य्यन्त सम्पूर्ण वस्तु का प्रतिक्षण रूपान्तर होता रहता है; और शक्ति कमोबेश हुआ करती है, जैसे बालक से युवा में शक्ति बढ़ती और युवा से वृद्धावस्था में शक्ति घटती है; तैसे ही मरण अवस्था में बोली व पहिचान व क्रिया बन्द हो जाती है; पर आकृति ज्यों की त्यों ही विद्यमान रहती है।

३-मुर्दे में आकृति व ध्वनि की प्रतीति जब तक सूक्ष्म से सूक्ष्म रूप हो कर अदृष्ट नहीं हो जाती तब

तक विद्यमान रहती है। जिस प्रकार धातु व काष्ठ में संयोग क्रिया से ध्वनि प्रगट होती है; उसी प्रकार मुर्दे से भी ध्वनि प्रगट होती है ; अर्थात् आकृति व शब्द का नाश नहीं होता, केवल अवयव व इन्द्रिय शक्ति-हीन हो जाते हैं। शक्ति का कुंठित हो जाना नाश नहीं है, बीमारी है; जैसे अचेतन व सुषुप्ति अवस्था में कुंठित शक्ति हो जाती है; व नपुंसकता, जकड़ापन, लकवा की बीमारी, व कान बहिरा होने में उन अंगों की शक्ति कुंठित हो जाती है, वैसे ही मरण अवस्था में सब अवयव व इन्द्रिय की शक्ति कुंठित हो जाती है; पर वह मुर्दा बीज रूप, शक्ति रूप, व कार्य कारण रूप जैसा का तैसा ही रहता है। उदाहरणः-मुर्दे से कीड़े पैदा होते हैं; इससे वह बीज रूप अर्थात् कारण रूप सिद्ध हुआ।

मुर्दा भक्षण करने वालों की उदरपूर्ती होती है ; इससे मुर्दा शक्ति रूप सिद्ध हुआ; और भक्षक का वह मुर्दा कार्य व शक्ति रूप सिद्ध हुआ। जो मुर्दा जला दिया जाता है, वह राख रूप आकृति होकर ज़मीन रूप हो जाता है, तब उस आकृति की संज्ञा मिट्टी हो जाती है व वही राख पानी में बहाने से पानी रूप हो जाती है। यदि मुर्दा गाड़ दिया जाता है तो वह कीड़ा और मिट्टी रूप हो जाता है, और जो वह जल में छोड़ दिया जाता है तो अन्य का भक्ष्य कार्य रूप या जल रूप हो

जाता है; इससे सिद्ध हुआ कि आकृति का नाश नहीं होता।

अथवा यों मानों कि सम्पूर्ण वस्तु की संज्ञा में जाति, नाम, रूप, गुण, स्वभाव, अवस्था और कर्म की पहचान का जो शब्द व्यापार मनुष्य में है केवल उस पहचान के शब्द व्यापार का ही रूपान्तर होता है।

जैसे २ वस्तु की अवस्था अथवा गति में परिवर्तन होता है तैसे २ जुदी २ संज्ञा में उसका बोध कराया जाता है, यथा वही वस्तु है। किन्तु शिशु से युवा होता है तो उसको युवा के नाम से कहा जाता है, वृद्ध होता है तो वृद्ध के नाम से कहा जाता है। उपर्य्युक्त उदाहरणों से सिद्ध हुआ कि आत्मा व रूह आकृति व शब्द ही हैं; और ये नित्य हैं, इनका नाश अथवा रूपान्तर नहीं होता, और ये ही प्रकाशरूप, साक्षीरूप और व्याप्य व्यापक रूप हैं, ये ही जगत् की स्थिति, जगत् के व्यव हार के आधार हैं। सारांश यह है कि मनुष्य ने जो अनुभव किया सो सब जगत् से किया व जो देख पड़ते हैं वे सब आकृति हैं; वही आकृति समुदाय जगत् हुआ है और आकृति में जो प्रकार, जाति, नाम, रूप गुण, कर्म, स्वभाव, अवस्था का जो शब्द व्यापार है वह केवल प्रपंच रूप है; इससे द्वैत की भ्रान्ति हुई है।

आर्य्यसमाज सिद्धान्त खण्डन।

(१) स्त्री पुरुष से जो सम्पूर्ण विश्व की रचना सिद्ध की गई है उसका खण्डन—कुदरती नियम है कि जो बीज जिस जाति व आकार का होता है उससे उसी रूप, गुण का स्थूलाकार शरीर उत्पन्न होता है। ऐसा उदाहरण नहीं है कि मनुष्य के बीज से अन्य रूप के प्राणी पैदा होते हों।

(२) ईश्वर जीव दो पृथक् २ हैं इसका खण्डन। जगत् से भिन्न ईश्वर की सिद्धी नहीं है। इससे ईश्वर जीव पृथक् नहीं है, केवल वाच्य भेद हैं, अर्थात् उसी को कोई ईश्वर कहता है कोई जगत् कहता है। वस्तु के शकल को जीव व वस्तु के शकल में जो शक्ति अथवा गुण रहता है तिसको ईश्वर कहा है।

(३) जीव में जो जड़ चेतन दो भेद माना है उसका खण्डन। विश्व में जो सम्पूर्ण वस्तु हैं सभी बीज रूप, शक्ति रूप हैं और सभी में कारण कार्य्य का धर्म देख पड़ता है। वे ही परस्पर उत्पादक, नाशक हुआ करते हैं, अर्थात् सभी वस्तु में उत्पादक धर्म, पालक धर्म, नाशक धर्म रहता है। कालान्तर में वे ही पालक, वे ही उत्पादक, वे ही नाशक रूप होते रहते हैं। कोई वस्तु विश्व की ऐसी नहीं है जो शक्ति रहित हो। तब जड़ चेतन का भेद कैसा? इस प्रकार आर्य्यसमाज का द्वैतवाद भ्रष्ट है।

(४) धर्म के प्रचार में जो भ्रष्टता है, सो देखिये। वेद ने व आप्तों ने धर्म की स्थिति वर्णभेद व आचार विचार के आधार ही पर की है यथा—

चातुर्वर्ण्यं मयासृष्टं गुण कर्म्म विभागशः।

तथा स्वार्थ त्याग अर्थात् निष्काम कर्मको ही धर्म सिद्ध किया है, और जगत् ही को ईश्वर सिद्ध किया है, तथा देश भक्ति ही को ईश्वर भक्ति कहा है। क्योंकि जगत् के भिन्न ईश्वर की सिद्धि नहीं, तो दूसरी किसकी भक्ति हो सकती है। धर्म के दो मार्ग नियत हैं (१) प्रवृत्ति और (२) निवृत्ति—प्रवृत्ति मार्ग में लोक हित के कर्म को ही मुख्य धर्म माना है, जैसे कुंआ बनाना, तालाब बनाना, धर्मशाला बनाना, सड़क पर पेड़ लगाना, अस्पताल, मदरसा, सड़क और नाना प्रकार के हित उपदेश व हित मार्ग व विद्या प्रगट करना तथा यथा शक्ति यथा वित्त परोपकार करना। इन्हीं कर्मों को धर्म माना है। जिसमें सब का उपकार हो व सब को सुख मिले इसी कर्म को निष्काम कर्म अर्थात् स्वार्थ त्याग भी कहा है। अभक्ष्य त्याग तथा कुसंग का बर्जना ही आचार है, और मानव धर्म का चीन्हना ही विचार है। मानव धर्म का विवरण "गुरूपदेश" के प्रसंग में हुआ है—यही सनातन धर्म है। उसी को सत्य भी कहा है। यथा "सत्यान्नास्ति परोधर्मः" (२) निवृत्ति मार्ग वह है जिसमें निःसंग होना तथा आश्रय

से मुक्त होना ही आचार है तथा अपने को पहिचानना ही विचार है। इन दो रूपों में ही सब देशों के आचार्य्यों ने धर्म संस्था विभक्त की है। और इसी को सत्य के शब्द से पुकारा है। इसी को अद्वैत सिद्धान्त माना है। द्वैतता किसी युक्ति व तर्क से सिद्ध नहीं होती। सम्पूर्ण वस्तु शक्ति रूप हैं। शक्ति रहित कोई भी पदार्थ नहीं है। सब कारक व मारक रूप हैं। सब की एक गति है। अर्थात् सूक्ष्म रूप से स्थूल हो कर देख पड़ना व स्थूलाकार से सूक्ष्म रूप हो कर अगोचर हो जाना सभी के लिए एक नियम नियत है। अर्थात् ३० भांति की प्राकृत क्रिया ही में मनुष्य तथा समस्त प्राणी जन्मते, पलते व मरते हैं, जिसका कि विवरण "गुरूपदेश" प्रसंग में हुआ है। समस्त प्राणी की एक अवस्था अथवा एक ही गति है। अर्थात् सत्संग से सब को सुख और कुसंग से सब को दुःख मिलता है। तथा अनुकूल पोषक पदार्थ पाने से सब हृष्ट पुष्ट तथा प्रतिकूल शोषक पदार्थ के संयोग से सब क्षीण व निर्बल होते हैं, तथा बाल्यावस्था से सब को जवानी व जवानी से बुढ़ापा आता है। पराधीन को सदा दुःख और स्वाधीन को सदा सुख होता है। समस्त प्रकार के प्राणी एक दूसरे की अपेक्षा रूप और गुण में न्यूनाधिक होते हैं। इस न्यूनाधिक के भेद से द्वैतता सिद्ध नहीं होती। क्योंकि जगत् के कार्य अनेक रूप में रहते हैं। प्रत्येक रूप को उत्पन्न करने के लिये भिन्न २ साधनों की अपेक्षा होती है।

यथा ज़मीन खोदने के लिये, और पत्थर तोड़ने के लिये, लोहे ही से झूमड़ा, फौड़ा, सब्बल आदि शकल के औज़ार बनते हैं, तथा कपड़ा सीने के वास्ते सुई इत्यादि शकल के औज़ार बनते हैं। इनमें छोटे बड़े व अच्छे बुरे का पण्डित लोग ख्याल नहीं करते। इसी प्रकार मनुष्य की शकल में छोटे बड़े अच्छे बुरे का भेद नहीं है। चलन व कर्म के भेद से ही ऊंच नीच सभ्य असभ्य कहे जाते हैं। एवम् सब से बड़ा व सब से उत्तम और सब से सूक्ष्म केवल एक मात्र हिरण्यगर्भ ही को सब आप्तों ने सिद्ध किया है। इससे निर्विवाद सिद्ध है कि यह चराचर विश्व एक मय है, द्वितीय कुछ भी नहीं है। "एकं ब्रह्म द्वितीयो नास्ति"। यही सनातन धर्म के सिद्धान्त हैं। इस सनातन धर्म के प्रतिकूल अर्थात् वेद व आप्तों का निरादर करते हुए आर्य्यसमाज ने नूतन मार्ग में धर्म स्थापित किया है। जो लोक सम्मति के सर्वथा प्रतिकूल जा रहा है। देखो सब देश में सनातन से वर्ण भेद की मर्य्यादा दृढ़ हुई है यथा—

"चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टम् गुणकर्म विभागशः"
"स्वे स्वे कर्मण्य भिरतः स सिद्धिं लभतेनरः"

और सब ने एक मात्र निष्काम कर्म को ही धर्म शब्द से बोध कराया है। पेशे पर ही वर्ण भेद प्रचलित है। बिना वर्ण भेद रहे संसार का काम ही नहीं चल सकता। जाति भय, सब देश की छोटी बड़ी जातियों में निया-

मक है। इसी जाति भय से मनुष्य लोक हित के प्रतिकूल कर्म से बचते हैं। यही सनातन धर्म सभी देश की छोटी बड़ी जातियों में प्रचलित हैं। तथा धर्म मार्ग में जितनी क्रिया तथा साधन हैं तिन सब का साध्य केवल सुख है। तिस साधन व क्रिया के रूप के फेर फार से किसी जाति का धर्म लघु नहीं माना जा सकता। उसको मूर्खता कहके साधारण को जाति भ्रष्ट करते हैं, अर्थात् इन जातीय मर्य्यादाओं से आर्य्यसमाज मुक्त कर्ता है। किन्तु उसके दुष्ट आचरणों को नहीं मुक्त करते एवम् सभी छोटी बड़ी जाति को एक रूप में प्रवृत्त करके वर्ण भेद तोड़ते हैं, तथा जाति भ्रष्ट करते हैं और वर्ण संकर बढ़ाते हैं। और इस अनाचार को धर्म प्रचार माना है, ऐसा वेद व किसी आप्तों की आज्ञा नहीं है न अन्य और आचार्य्यों के सिद्धान्त से सिद्ध होता है कि प्रवृत्त मार्ग के उपासक को जात पांत से विचलित करना धर्म है। जिन आचार्य्यों ने वर्ण भेद तोड़ा है उन्हीं लोगों के लिये तोड़ा है जिनको उन्होंने प्रवृत्ती मार्ग से छोड़ा के निवृत्ती मार्ग में लिया है। इस अभिप्राय से कि ये सर्वत्र जाके घूम२ कर सर्वसाधारण को मानव धर्म समझावें। दूसरे किसी देश ने भी छोटी जाति को बड़ी बनाने से या उच्च जाति को नीचों के बराबर कर देने से देशोन्नति अथवा अन्य लाभ प्राप्त किया हो प्रमाण नहीं मिलता, ऐसा तो आर्य्यसमाज के धर्म प्रचार में भ्रष्टता व अपवित्रता है उसको विद्वान स्वयम् विचार करेंगे।

अब आर्य्यसमाज के सिद्धान्त का हाल सुनिये कि वह कैसा सत्य व वैदिक धर्म है। यह सिद्धान्त सनातन प्रणीत शास्त्र के आधार पर ही स्थित है, तिनमें कितने ग्रंथों को तो उन्होंने अप्रमाणिक कह दिया। जिनको माना उनका अर्थ भी उलट पुलट कर दिया तथा उनके धर्म सम्बन्धी क्रिया विधान को दूसरे रूप में परिणत कर जातीय धर्म में अश्रद्धा उत्पन्न की है और अनाचार बढ़ाया है।

इसके अतिरिक्त देशहित का उत्पन्न करने वाला कोई भी विधान उनके ग्रंथ में नहीं है। जो सनातन प्रणीत शास्त्र में न हों। यथा सनातन शास्त्र में प्रायश्चित्त का निबन्ध इस प्रयोजन से रक्खा गया है कि जो मनुष्य संसर्गवश कुल रीति व कुल धर्म के विपरीत कर्म करले तो वह जाति दण्ड के प्रायश्चित्त से शुद्ध हो जाय। इस प्रमाण के आधार पर आर्य्य समाजी लोग छोटी जाति को शुद्ध करते हैं, मानो वे गदहा नहला के व रंग के घोड़ा बनाते हैं।

विद्वानों से इस प्रलोभन से धन संग्रह करते हैं कि हिन्दुओं को मुसलमान व क्रिस्तान होने से रक्षा करते हैं, तथा मांस खाना बन्द करते हैं और गाय की व बकरी की जान बचाते हैं तिसके उत्तर में यह है। जब समाज ही जो अपने कुल धर्म की रीति को त्याग के उसमें घुसे हैं उनमें तो मांस खाना बन्द ही नहीं है

तो अन्य मांस भक्षी को क्या उनकी नसीहत काम कर सकती है? मांस भक्षण का मद कोई धर्म के प्रचार का अंग नहीं है। यह गुण दोष के विवेचन का अंग है। कारण मांसहारी ज़्यादा मनुष्य हैं। धर्म वही वस्तु है जो समस्त मनुष्य मात्र में समान साधन हो अर्थात् जो धर्म किसी के ख़िलाफ़ न हो उसको धर्म माना है इत्यादि। धूर्तता के व्यवसाय से देश के आंख में धूल झोंक कर अनाचार वृद्धि करते हैं और आर्य्य कहलाते हैं, तथा देश के धन के ही बल से भारतवर्ष को अधोगति में डालते हैं। जो लोग हिन्दू धर्म को छोड़ कर और धर्म में जाते हैं वे प्रायः पेट भरने के लिये जाते हैं, मोक्ष के लिये नहीं जाते। नीच जाति के हिन्दू भी और धर्म वालों का छुआ नहीं खाते और उनके जूठे बर्तन नहीं मांजते तो उनके धर्म में क्यों जाने लगे। प्रायः क्षुधार्त होने से ही पराए धर्म में जाते हैं। आर्य्य समाजी हिन्दुओं को मुसलमान या इसाई होने से बचाना चाहते हैं तो उनके पेट भरने का उपाय करें। जिन छोटी जाति वालों को आर्य्य समाजियों ने प्रायश्चित्त कराके शुद्धि की है क्या उनके स्वभाव को भी शुद्ध कर दिया है? क्या उन्होंने असत्य, कपट, लोभ इत्यादि दोषों को छोड़ा दिया? लोक सम्मत ही सनातन धर्म है। किसी ने अद्या-वधि प्रायश्चित्त कराके नीच को ब्राह्मण नहीं बनाया है। मंकी और जावालि की जो उपमा देते हैं वे नीच योनि में जन्मे तथा जन्म से ही उत्तम कर्म किये तिससे वे

उच्च आसनों के योग्य समझे गए, व ब्राह्मण माने गए। ब्रह्म जानने वाले को ब्राह्मण कहते हैं। इसी प्रकार पिछले समय में रयदास, कबीर, नानक, आदि भी उच्च श्रेणी के माने गए। यही सनातन धर्म का मुख्य उद्देश्य है। किन्तु प्रायश्चित्त करके शुद्ध बनाना आर्य्य समाज का उद्देश्य है। ऐसा धर्म प्रचार शास्त्र प्रमाण से व लोक रीति से विरुद्ध है। किसी जाति भ्रष्ट को ईश्वर प्राप्त नहीं होता, तथा कोई भी कुलीन, जाति भ्रष्ट को जाति के सम्बन्ध में आदर नहीं करते अर्थात् उससे खान पान सम्पर्क सब छूट जाता है।

मनुष्य पवित्र तबही होता है, जब स्वच्छ देशभक्त हो कर निष्काम कर्म करता है। पाखंडी क्रियाओं से कदापि पवित्र नहीं बन सक्ता! पवित्र वही है, जो असत्य न बोले व बुरे कर्म न करे और सब का हितकारी हो। हे विद्वानों सोचिये। जब से आर्य्य समाज का धर्म प्रचार बढ़ा है, तब से आज तक इस समाज ने जितने हिन्दुओं को मुसलमान और ईसाई होने से बचाया है उनसे कै गुने और कितने हिन्दुओं को वर्णाश्रम से विचलित व जाति च्युत किया है, और कितनों में धर्म में अश्रद्धा बढ़ाई है। इससे मालूम होगा कि इस धर्म के प्रचार से हिन्दू धर्म की और देश की उन्नति हुई है या अवनति हुई है। यह कोई सिद्ध करै कि जाति पांति की मर्य्यादा तोड़ने से एकता होती है व हो सकती है, अथवा एकता करने का यही एक सुगम उपाय है। एकता

का मतलब यही है कि परस्पर विरोध शान्त हो। सब परस्पर अपना सा कार्य्य दूसरे का भी समझें। वर्ण भेद सर्वत्र लोक सम्मत है। क्या हिन्दू क्या मुसलमान, क्या अंगरेज़, क्या अन्य जाति सभी वर्ण भेद रखते व वर्तते हैं। कोई ख़ानदानी मुसलमान या अंगरेज़, नीच पेशे व चलन वाले व जाति च्युत के साथ सम्बन्ध तथा खान पान व सम्पर्क नहीं रखते। फिर हिन्दुओं में जाति भेद की मर्य्यादा तोड़ने से क्या देश का कल्याण होना सम्भव है? कदापि नहीं। जो विद्वान जाति बन्धन तोड़ने ही से एकता होना संभव गिन्ते हैं, तो क्या वे जाति बन्धन तोड़ सकते हैं? कदापि नहीं। जाति बन्धन जभी टूटते हैं, जब निवृत्ति मार्ग में प्रवेश होता है। अर्थात् जाति संबंध छूट जाता है, इष्ट मित्रों से कोई संबंध नहीं रहता, जब तक सब प्रयोजन साथ लगा है तब तक कदापि जाति बन्धन टूट नहीं सकता। यह सार्वभौम सिद्धान्त है। क्योंकि बिना पेशे वाले के दुनियां के काम का निर्वाह सम्भव नहीं। इससे जो परम्परा से मर्य्यादा नियत है, उसको विलुप्त करने की किसी को सामर्थ्य नहीं है। इसी को सनातन धर्म पुकारा है। एकता उसी को पुकारा है कि सब की रक्षा में अपना सा सुख दुःख समझ के व्यवहार करना। जिसको दूसरा शब्द "रिफाहआम" है, जिसमें दुनियां के कार्य्य में शिथिलता न पड़े, इसी को सनातन धर्म माना है। सब अवतारी पुरुषों ने इसी धर्म का प्रचार किया, इसके प्रतिकूल जो

धर्म हैं वे सब पाखंड हैं। जो २ विद्वानों ने आर्य्य-समाज के धोखे से अपने कुल धर्म का तिरस्कार किया है उनको उचित है कि वे फिर अपनी जाति की मर्यादा का आश्रय लें। और भविष्य में यह जातीय नियम दृढ़ करें कि जो जाति धर्म का निरादर करके आर्य्य-समाज में सम्मिलति हों वे जाति च्युत किये जावें। उनसे जातीय सम्पर्क छूट जावे जिससे फिर सब जाति धर्म को दृढ़ता से पकड़ें और फूट व मत विवाद निःशेष हो कर धर्म की स्थिति हो।

अन्य मत समीक्षा।

अन्य मतावलम्बी धर्म संस्थापन के मिस गोल वृद्धी ही का लाभ करते हैं। सोचिये जिस देश में हमारा जन्म हुआ है, तथा जिस देश का कल्याण हमारे आर्य्यों के द्वारा हुआ है उनका स्मारक विलुप्त करके अपने देश के आर्य्यों का चिंतवन करने को वे प्रवृत्त कराते हैं इस से सिवाय हमारी हानि के और क्या है? जो वे गोल वृद्धी हेतु अथवा स्मारक विलुप्त करने हेतु वर्ण धर्म से बहका के हमको विचलित करते हैं, क्या इस कर्तव्य से देश का कल्याण सम्भव हो सकता है? कारण जब उन्होंने अपने परोपकारी स्नेही पर ही विश्वास न रक्खा तब वे कृतघ्नी रहेंगे, कदापि धर्मावलम्बी नहीं होंगे। धर्म स्थित केवल प्रेम व स्नेह बढ़ाने के लिये ही नियत है।

दम्भ धर्म विवेचन ।

जो धर्म के नाम अधर्म्म तथा अमर्य्याद बढ़ाते हैं और उन लोगों की श्रद्धा को उनके धर्म्म से विचलित करते हैं उनको धूर्त और मनुष्य जाति के अपकारी समझना चाहिए। जैसे मुसलमान लोग ईद, बकरीद, आदि में गो हत्या करने को धर्म पुकारते हैं। हिन्दुओं में आर्य्यसमाज वर्णशंकर बढ़ाने का धर्म प्रचार मानते हैं। वाममार्गी व्यभिचार, तथा मांस, मदिरा के सेवन को धर्म स्वीकार किए हैं, और अपने मत के प्रमाणों में बड़े शास्त्र रच डाले हैं। अन्त्यज जाति देवतों के नाम में सूअर काटते हैं, देवी के उपासक देवी के नाम बकरा व भैंसा काटते हैं, आधुनिक वेदान्ती तथा पाखण्डी सन्यासी "सोऽहं" कह कर स्वेच्छाचार करते हैं और ठगते हैं, लोक मर्य्यादा को त्यागकर, अभक्ष भक्षण तथा पतित संसर्ग करते हैं। यह विश्व ईश्वर रूप सिद्ध है किन्तु मनुष्य में कर्म प्रधान हुआ है। अहं ब्रह्मास्मि की भावना तत्वज्ञान की है, अनाचार वृद्धि के लिये नहीं है। अच्छे बुरे कर्म का फल तत्काल ही प्राप्त होता है "क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धि र्भवति कर्मजा" अपने को ब्रह्म समझना उस अवस्था में होता है जब निष्काम कर्म करके अपने हृदय की वृत्ती शुद्ध हो गई हो अर्थात् आधि रोग छूट गया हो और आश्रय से मुक्त हो, निसंग हो गए हों, चित्त की वृत्ति रुक कर विचार

का प्रकाश उदय हो गया हो। सन्यासी देखते हैं कि विश्व मुझमें है और मैं विश्व में हूं। ऐसी डोर भीतर बाहर की एक मय हो जाने से समाधि अवस्था तथा जागृत् अवस्था, दोनों में विश्व शक्ति रूप से उनको भासता है। इसी अवस्था को परमगति परमपद कैवल्य कह के पुकारा है। अधि के नाश ही को मुक्ति कहा है। धर्म उसको ही कहते हैं। प्रमाण—"यद्यपि शुद्धम् लोक विरुद्धम् ना करणीयम्" जिससे लोक में सुख, समृद्धि, आरोग्य और प्रीति बढ़े उसको धर्म नहीं कहते हैं। जिससे विवाद विरोध स्वेच्छाचार और निर्मर्य्यादता बढ़े।

अथ मांसभक्षण दोष।

प्राय: मनुष्य उन्हीं पशुओं का मांसभक्षण करता है जैसा ऊंट, घोड़ा, भैंस, सुअर, हिरन, गाय, बकरी, भेड़ आदि तथा जो पशु व पक्षी मांस भक्षी हैं उनका मांस मनुष्य नहीं खाता, जैसे शेर, चीता, भेड़िया, सियार, कुत्ता, बिल्ली, सर्प आदि तथा गीध, चील, कौवा आदि। इससे सिद्ध होता है कि मांसभक्षण में कोई विशेष रोग व विकार अवश्य होता है और लोक रीति के अनुभव से भी बोध होता है कि जो मांसाहारी जीव हैं, तथा मांसाहारी मनुष्य हैं, उनमें निष्ठुरता रहती है, वे अन्य की पीड़ा नहीं देखते, अर्थात् दया उनमें नहीं होती। तथा तत्वज्ञान भी मांसभक्षी को

कदापि प्राप्त नहीं होती। इसी से सर्व धर्म के अचार्य्यों ने तत्व जिज्ञासुओं के लिए मांस भक्षण का निषेध ही किया है।

इति श्री हरिदास विरचितम् धर्म निर्णय, वाद निर्णय,
व ईश्वर जीव एकता सिद्धी, अर्थात् अद्वैत
प्रतिपादन नाम प्रथमो मयूखः ।

अथ भेद अर्थात् द्वैत भेद कल्पना का मिथ्यात्व निरूपणम् ।

अज्ञान तिमिरान्धस्य ज्ञानांजनशलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितम् येन तस्मै श्री गुरुवे नमः ॥

विश्व की समस्त वस्तु केवल अर्थात् निरविकार हैं। किसी शकल के वस्तु में अछे बुरे का दोनों भेद नहीं है, क्योंकि प्रत्येक शकल के पदार्थ सब कार्य्य कारण रूप रहते हैं। किसी विद्वान की शक्ति नहीं है कि एक वस्तु को स्थिर करके अथवा एक वस्तु का नाम रख के सिद्ध करे कि यह अच्छा है यह बुरा है। व्यवहार में जो अच्छा बुरा का भेद देख पड़ता है वह भेद अपनी परिचय, अपना मतलब, अपना हित और एक के अपेक्षा में रहता व होता है और वह सिखाए समझाए से दृढ़ होता है। इसी को बासना कहते हैं।

विचारिए—मनुष्य का बालक जन्म के पश्चात पहचान सीखता है। किन्तु पहिले मा बाप यह शब्द भी

नहीं कहता। पश्चात् मा बाप व अन्य रक्षक, पोषक, शिक्षक के सिखाने से, जिस भाषा के बोलने वालों में संसर्ग होता है उसमें जिस विषय का जितना शब्द व्यापार सुनता है तथा जितने प्रसंग की क्रिया निर्माण करना सीखता है उतने ही का वह धीरे २ बोधक व जानकार होता है; वह जिस प्रकार व जाति की वस्तु को पहिचान लेता है; व उसका भेद समझ लेता है; उन शकलों के वस्तु में ही भले बुरे को चीन्हता है; और उतना ही उसके शब्द व्यापार की उच्चरित क्रिया होती है। शेष अन्य वस्तुयें जिनको उसने नहीं चीन्हा, तथा जो क्रिया नहीं सीखा व अन्य भाषा तथा अन्य विषय के शब्द व्यापार में जिनका भाव उसका समझा नहीं होता उन में भला, बुरा, क़ीमती, बे क़ीमती, उच्च, लघु श्रेणी, कुल, जाति आदि का ज्ञान उसे नहीं रहता। उदाहरण:—जिस मनुष्य ने कीमियां की पत्ती, संजीविनी व अन्य गुणी औषधों को नहीं चीन्हा है उसको वे यदि मिल भी जायं तो वह उनको तृण ही प्रतीत करता है। यदि किसी जंगली मनुष्य को उत्तम जवाहरात भी मिल जाय, तो वह मूल्य न जानने से स्वल्प मूल्य में ही अर्थात् गुड़, नमक, अन्न, कपड़ा आदि के बदले में दे देता है; यथा—

न वेत्ति यो यस्य गुण प्रकर्षं स तस्य निन्दां सततं करोति।
यथा किराती करिकुम्भ जातां मुक्तां परित्यज्य विभर्ति गुञ्जाम्॥

धनाढ्यों के उत्तम रस, अमूल्य वस्त्र व कीमती २ रत्न आदि जो चोरी से बिकते हैं, वे कौड़ी मोल ही बिकते हैं। बालक भी रत्न व सुवर्ण के गहना को भक्ष्य पदार्थ व खेल की वस्तु समझ कर उसका गुण व मूल्य न जानने के कारण उसके खो जाने या किसी के ले जाने की चिन्ता नहीं करता। इससे सिद्ध हुआ कि कीमती व बे कीमती, भला, बुरा कुछ नहीं, केवल चिन्हारी है।

(२) उदाहरण :-अपरचित गुणी, धनो, पंडित, सभ्य, कुलवान्, ब्राह्मण, क्षत्री, उच्चश्रेणी जाति, और निर्गुणो, निर्धनी, मूर्ख, असभ्य, अकुलीन, नीचश्रेणी जाति इन दोनों को साधारण कपड़ा पहिरा कर एक जगह बैठा दो, तथा लड़के को लड़की का पोशाक पहरा दो और अपरचित विद्वान से भी उसका नाम, गुण, चलन, अवस्था, जाति, सम्बन्ध आदि का भेद पूछो तो वह कदापि नहीं कह सकता और पशु पक्षी तो गोरा काला सुन्दर कुरूप का भी भेद नहीं देखते।

अपना मतलब।

उच्छिष्ट भोजन व पुराने वस्त्र को धनी बुरा समझता है पर कंगाल को वे ही भले होते हैं।

एक ही मनुष्य किसी का मित्र और किसी का शत्रु होता है। तथा अपरचित मनुष्य में तथा बिना प्रयोजन पड़े किसी मनुष्य में शत्रु मित्र अच्छे बुरे की

भावना नहीं होती। इससे सिद्ध है कि भला बुरा व मित्र शत्रु कुछ नहीं, केवल अपना मतलब है। मतलब ही से पिता, माता, भाई, पुत्र, और स्त्री आदि हैं, अर्थात् अपने मतलब की सिद्धि न होने से एक दूसरे को छोड़ देते हैं; व अलग हो जाते हैं।

यथा :—"अर्थस्य पुरुषोदासः नार्थो दासोस्ति कस्यचित्।"

मशमुर कि दोस्तानन, हमा दुशमनान जानन।

हमा तालिबान नानन, च पिसर च ज़न च दुख़्तर॥

अर्थात् कोई छोटा बड़ा व भला बुरा नहीं है, अपना मतलब ही बुरे भले रूप से परिणत होता है।

अपना हित।

उत्तम खाद्य पदार्थ—मेवा, फल, मिष्ठान्न, घृत, दुग्धादि, निरोगी मनुष्य को हितकर और शक्तिदायक होते हैं, और ये ही उत्तम पदार्थ रोगी मनुष्य को अहितकर और रोगोत्पादक होते हैं। बादाम मनुष्य को शक्ति रूप है परन्तु घोड़ों को विष रूप; इन सब उदाहरणों से सिद्ध है कि कोई वस्तु भली बुरी नहीं है, अपने हित में हित और अहित में अहित होती हैं। अन्न प्राण रखने वाला है। विष प्राण खोने वाला है, किन्तु विष भी जान बचाता है, और अन्न भी जान मारने वाला होता है।

भले बुरे का ज्ञान एक दूसरे की सापेक्षता से होता है। उदाहरण:-१ जैसे तांबा से चांदी, चांदी से सोना,

फीके रंग के कुडौल रत्न से गहरे रंग का सुडौल रत्न, सूती कपड़ा से रेशमी व ऊनी कपड़ा, मूर्ख से पंडित, असभ्य से सभ्य, प्रजा से राजा और निर्धन से धनी श्रेष्ठ है। वैसे ही कुरूप से सुन्दर, निर्बल से बली, कृपिण से उदार, मलिन से स्वच्छ, शूद्र पेशेवाले से बनिया का पेशे वाला, बनिया के पेशे वाले से क्षत्री, क्षत्री से श्रेष्ठ ईश्वर भक्त व साधु माने गए हैं। वे ही ब्राह्मण शब्द से पुकारे गए हैं। धन की तृष्णा से कीर्ति की तृष्णा श्रेष्ठ है, और खाद्य पदार्थों में घृत, मान्यों में पिता, उपासना में सत्यावलम्बी, साधना में सन्तोष, पुरुषार्थ में आत्म विचार, शिक्षकों में गुरु, ज्ञान में अनुभव और जीव में ईश्वर श्रेष्ठ माना गया है।

२–समस्त वस्तु तथा प्राणी और मनुष्य मात्र सभी में एक व्यक्ति की अपेक्षा दूसरा रूप गुण में न्यूनाधिक होता है। इन उदाहरणों से सिद्ध हुआ है कि द्वैतता केवल सिखाए समझाए से दृढ़ हुआ है।

३–सुषुप्ति अवस्था व गाढ़ निद्रा में शक्ति अर्थात् जान ही विद्यमान रहती है; उस अवस्था में ज्ञान रूप क्रिया कुछ नहीं रहती है।

"यो बुद्धे स्परतस्तुसः, और न तत्र सूर्य्यो भाति न चन्द्र तारकम्"

वही शक्ति अथवा जान स्वप्न अवस्था में संयोग क्रिया से रूप युक्त हो देख पड़ती है। जैसे आसमान में संसर्ग से नाना रंग के व रूप के क़िस्म २ के विचित्र २

शकलें बना करती हैं, और उन्हीं रूपों से क्रिया भी उदय होती है; परन्तु उस रूप में अहंकार तथा अहं भावना अथवा बुरे भले का ज्ञान नहीं रहता, किन्तु मनुष्य द्वैतता मानने के कारण जागने पर अपने में अहं भावना करता है; व स्वप्न के मिथ्या स्वरूप में व उसकी क्रिया में बुरे भले की कल्पना करता है कि मैंने आज अच्छा या बुरा स्वप्न देखा; तथा अपने को कर्त्ता भोक्ता मानता है; यही द्वैत भावना भ्रान्ती वा अज्ञान है; जो मानने से दृढ़ हुआ है, इससे असत्य सत्य सा प्रतीत होता है; इसी पर श्रीकृष्ण भगवान् का वाक्य है; कि-

"अहंकार विमूढ़ात्मा मिथ्याहमिति मन्यते ।
नासतो विद्यते भावो ना भावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोन्तस्तनयोः तत्वदर्शिभिः ॥"

अर्थात् श्रीकृष्ण अर्जुन को समझा के कहते हैं कि सत् का अभाव नहीं, असत् में भाव नहीं, यही सत्य है। तात्पर्य यह है कि जो तू देखता है ऐसा ही दृश्य अनादि काल से सब देखते आ रहे हैं। ये नित्य हैं, कहनावट है

"दुनियां के ये तमाशे हरगिज़ कम न होंगे ।
चर्चा यही रहेगा अफ़सोस कि हम न होंगे ॥"

अर्थात् समस्त जीव और उनकी क्रिया तथा मानुषी प्रपंच सब को ऐसे ही प्रतीत होते आये व होते जायंगे। अथवा यों मानो कि तू ही सम्पूर्ण देखता है तो तू ही हुआ और अन्य फिर क्या है। द्वैत भावना में जो समस्त शकलों की संज्ञा का जो शब्द व्यापार है, वही असत्य

है; यही सत्य है। ईश्वर जीव, पुण्य पाप, उत्पन्न नाश, मेरा तेरा, यह वह, कर्त्ता भोक्ता, उत्तम मध्यम, मन बुद्धि, अहंकार, चित्त आदि सब शब्द व्यापार द्वैतता के हैं, इसी द्वैतता की दृष्टि ने मनुष्य में तृष्णा व आधि रोग उत्पन्न किया है और बड़े बड़े पारंगत विद्वानों को व्यामोह में डाल दिया व डाल रक्खा है। यथा महाराज रामचन्द्र जी का हवाला देता हूं—

"न पूर्व वार्ता न कदापि दृष्ट्वा न श्रूयते हेममई कुरंगः।
तथापि तृष्णा रघुनन्दनस्य विनाशकाले विपरीत बुद्धि॥

तृष्णा रोग से ही मनुष्य में असत्यता, छल, निर्दयता, धूर्तता दम्भता, कृतघ्नता और विश्वासघातकता उत्पन्न हो जाती है।

द्वैत कल्पना ही तृष्णा का उपादान कारण है। इसी तृष्णा रूप आधि रोग का विनाश करने के लिए उपदेश, क्रिया, साधन, धर्म, उपासना, मर्य्यादा, दण्ड का प्रबन्ध लोक सम्मत पर पृथक् २ रूप में नियत किया गया है; और धर्म में रुचि होने के लिए व प्रवृत्त करने के लिए विश्वास दृढ़ कराया गया है। वही विश्वास सब को फलीभूत होकर चित्त व बुद्धि शुद्ध व निर्मल करता है जिससे किसी भी उपाय से तृष्णा छूटे। तिस उत्कट रोग तृष्णा की मुख्य औषधि दो हैं सत्य धारण और विचार। द्वैत भावना केवल व्यवहार भेद के बोध हेतु कल्पित हुआ है। क्योंकि मनुष्य अन्य के विभव को देख कर अथवा

उत्तमोत्तम पदार्थों का उपभोग देख कर अपना मन छोटा करता है, मलिन चित्त तथा निर्बल हो कर पस्त-हिम्मत और असत्य उपासी होता है। इससे तत्वज्ञान में द्वैतता की कदापि सिद्ध नहीं होती है। जिन बली, धनी, गुणी विद्वानों की उत्तमोत्तम भक्ष व भोग प्राप्य होता है उनमें क्या कोई विकार नहीं होते ? क्या वे बूढ़े तथा रोगी नहीं होते ? क्या उनमें बुढ़ाई में या रोगित अवस्था में निर्बलता नहीं आती ? अथवा उचित आसूदगी प्राप्त हो जाने पर भी क्या उनको आराम करने का सुख मिलता है ? क्या उनको अपने प्रयोजन के लिये किसी की सेवा शुश्रूषा नहीं करनी पड़ती ? क्या उन्हें निर्भयता प्राप्त हो जाती है ? क्या उनकी तृष्णा के तरंगों का उछाल शांत हो जाता है ? क्या निन्दनीय काम करने पर उन की निन्दा नहीं होती ? क्या वे जाति या राज्य दण्ड से मुक्त हो जाते हैं ? क्या वे निर्बल व मलिन चित्त नहीं होते ? और क्या उनके कुपात्र संतान नहीं पैदा होती है ? क्या वे धनी से निर्धनी तथा बली से निर्बली नहीं हुआ करते हैं ? और निषिद्ध से निषिद्ध जिनका भक्ष्य भोग है, व समय कुसमय खाने की भी तंगी है, जाड़ा के लिये जिनको वस्त्र भी प्राप्त नहीं है उनकी सन्तान को क्या जवानी नहीं आती ? अथवा बली नहीं होते ? अथवा नेक चलन व सत्य-वादी नहीं होते ? क्या उनको नेकचलनी पर आदर नहीं मिलता ? क्या उनको पूंछ ताछ और क्या उनको कभी हर्ष का

समय नहीं प्राप्त होता? क्या उनकी सन्तान धनी, बली गुणी नहीं होती हैं? क्या वे ग़रीब से धनी नहीं हो जाते? और पशु पक्षी जो तृण खाते हैं व सर्पादि, कीट, मट्टी ही खाते हैं तो क्या वे पुष्ट व निरोग नहीं होते? कोई पदार्थ अच्छा या बुरा नहीं कहा जा सकता। विश्व ईश्वर का स्वयम् रूप है। सम्पूर्ण वस्तु उत्पादक वा पालक है, कोई निरस व निर्बल नहीं है; योजना, संयोग, उपाय और विचार ही बली निर्बली, अच्छा, सरस, निरस प्रतीत होता है; यह सिद्ध व सत्य है। प्रत्येक वस्तु प्रत्येक के लिये उचित उपयोग से लाभकारी होती है व सब पेट भर खाने को मिलने से तुष्ट होते हैं और अघाते हैं, यह ईश्वरीय नियम है। इसी से ईश्वर का नाम विश्वम्भर हुआ है। सन्तोष ही से सुख प्राप्त होता है, कोई प्राणी व वस्तु अच्छा बुरा व छोटा बड़ा नहीं है। सारांश यह है कि मनुष्य को किसी का विभव देख कर अपना दिल छोटा न करना चाहिये। सभी प्राणी मात्र को हर हालत में सुख तथा दुःख दोनों समान प्राप्त होता रहता है, यही शरीरधारी का नियम है। सोचो ख़ुशी के समय यथा शादी व्याह आदि के उत्साह में धनाढ्यों को करोड़ों रुपया ख़र्च करने से जो ख़ुशी हासिल होती है तथा जवाहरात पहरने से जो मस्ती आती है, ग़रीब कोलों को १०) रुपया ही के ख़र्च में वैसी ही ख़ुशी होती है, तथा मोटा कपड़ा नया पहरने में वैसीही मस्ती आती है, और जिनके बड़े ठाट

घाट हैं तिनको, तथा स्वच्छ झोपड़ी में सोने वालों को दोनों को निद्रा का सुख समान होता है।

धर्म निरूपण।

धर्म कर्म दोनों पर्य्याय वाचक शब्द हैं। जिस कर्म से बहुतों को सुख प्राप्त हो उस कर्म को धर्म माना है। जिस धर्म सम्बन्ध में सर्व देश के छोटी बड़ी जाति पढ़ अपढ़ पण्डित मूर्ख की एक सम्मत है वही धर्म माना गया है। उसी को नाना शब्दों से पुकारा है। किसी ने उसी को ईमान कहा है, किसी ने सत्य कहा है, किसी ने लोक सम्मत कहा है, किसी ने नीति कहा है, किसी ने मर्य्यादा कहा है, किसी ने क़ानून कहा है। हिन्दुओं ने उसको सनातन धर्म व मूर्त्तिपूजन कहा है। अब मैं गीता के आशय से इसे पुष्ट करता हूं-

अर्जुन को अनुकूल बोध न होने पर फिर श्रीकृष्ण भगवान् कहते हैं; "तृष्णा स्वार्थ ही को कहते हैं। स्वार्थ त्याग ही मुख्य त्याग है व धर्म है। जो मनुष्य कर्म अ-कर्म, अर्थात् कीर्त्ति अकीर्त्ति की छान करता है व तद्वत् व्यवहार करता है वास्तव में वही मनुष्य है। मनुष्य के जिन कर्मों के द्वारा देश उन्नति हो, देश हित हो, वही कर्म मुख्य धर्म है। जिस व्यवसाय से देश की अवनति व अहित हो वही अकर्म व पाप है। देखो देश उन्नति के अर्थ मैं बारम्बार जन्म लेता हूं, यह विश्व

मेरा ही रूप अर्थात् मैं ही हूं; विश्व से जो प्रीति करता है वही यथेष्ठ में मेरा भक्त है इससे देश सेवा ही मुख्य धर्म मानना चाहिए और धर्म ग्लानि ही से देश हित में बाधा पड़ती है; धर्म दृढ़ता से ही देश की उन्नति होती रहती है; मनुष्य को ईश्वर ने तद्वत् व्यवहारी बनाया है; वह पुरुष व नर कहाया है। आत्म मनन करने वाले की ही मनुष्य संज्ञा है; और वे ही Next to God मानित हुए हैं; और मैंने अपनी स्वच्छ विचार शक्ति व उपाय शक्ति मनुष्य को ही प्रदान किया है, कि जिस शक्ति से लोग देश की उन्नति करें; और आप कीर्त्तिमान् होवें। देखो जो राजा या अफ़सर तथा बली, धनी, गुणी, जो देश भक्त होता है वही मान पाता है व विख्यात होता है। मुख्य धर्म कीर्त्ति ही है, जिससे मनुष्य का हृदय प्रफुल्लित व ऊंचा होता है; और मुख्य पाप अपकार है, जिसको मनुष्य छिपाता है तथा जिस अकर्म से श्री हत हो जाती है। विद्वानों ने वही श्रेष्ठ कर्म कहा है जिस कर्म के करने से कीर्ति फैलती है और वही कर्म बुरा कहा है जिस कर्म से निन्दा, बदनामी होती है; कीर्ति ही को पारलौकिक सुख सिद्ध किया है। विद्या, बल, धन, लड़के, गृहस्थी ये दैहिक व सांसारिक सुख माने जाते हैं। इनका सम्बन्ध जीवन ही में रहता है। कीर्ति मरण पश्चात् भी स्थिर रहती है जिससे उसके सम्बन्धियों को सुख मिलता है, कीर्ति ही के लिए बड़े २ सम्राटों ने स्त्री, पुत्र, माता, राज्य व देह की ममता

सब को छोड़ के कीर्ति को चिरस्थाई किया है, जैसे यश के निमित्त राजा हरिश्चन्द्र जीवन निर्वाहार्थ डोमड़े की सेवा करने पर भी कीर्तिवान हुए, श्री रामचन्द्र ने लोक निन्दा के भय से पतिव्रता व गर्भवती स्त्री को त्यागकर कीर्तिवान हुए, परशुरामजी पिता की आज्ञा से माता को मार कर कीर्तिवान हुए। भीष्म पितामह ने पिता के गौरव से राज्य का हक त्याग कर कीर्तिवान हुए, राजा कर्ण ने यश के निमित्त अपने वक्षस्थल को चीर के कवच दे दिया व कीर्तिवान हुए, नौशेरवां बादशाह ने नीति के कारण अपने वली अहद पुत्र को फांसी दे दिया और कीर्तिवान हुए। कीर्ति वाक्य पटुता से किसी को प्राप्त नहीं होती, तन मन धन तीनों की ममता त्यागने ही से कीर्ति प्राप्त हुई है व होती है। सत्य है कि जो स्वच्छ सुख कीर्त्तिवान को प्राप्त होता है वह सुख न इन्द्रासन प्राप्ति में है न राज्य प्राप्ति में है। अर्थात् जिसकी कीर्ति का प्रकाश है वही मनुष्य जन्म का यथेष्ट लाभ पाता है।

२—इसी प्रकार जो मनुष्य तादात्मिक शक्तिके अनुसार अपने कुटुम्ब, साथी, जाति, गोल, वर्ग, समाज व देश की जैसी उचित सेवा करता है व किया है वैसे ही वह कीर्त्तिवान होता है, व हुआ है; और विद्वान व सभ्य मण्डली में उन्हीं कीर्त्तिवानों की तसवीर व जीवन चरित्र रहता है। विद्वान मण्डली अपने सन्तानों को उसी तसवीर के संकेत से उपदेश देते हैं; व उनको

उत्तेजित करते हैं। इसी को मूर्ति पूजन कहा है देशसेवा ही मनुष्य जाति का मुख्य उपासना व धर्म है; और यही मुख्य धर्म उन्नति के हेतु है, धर्म व कर्म की अत्यन्त सूक्ष्म गति है; इस लिये तू विचार अवलम्ब कर तब तुझे सत् असत् का बोध होगा और उस ज्ञान से चित्त शान्त होगा। देखो रक्षा में दया को ही धर्म माना है, और राजा राज्य रक्षा करने ही से स्तुति-योग्य होता है किन्तु उसी रक्षा के प्रबन्ध में जान मारने वाले को फांसी ही धर्म कहा जाता है। जैसे राज्यकुल के वास्ते वीरता व न्याय और प्रजा रक्षा ही मुख्य धर्म है, गृहस्थ के वास्ते अपने २ सन्तानों को उत्तम कर्म में प्रवृत्त करने के लिए यत्न करना ही मुख्य धर्म कहा है, औरतों के लिए पति सेवा, बालकों का पालन, गृहस्थी की रक्षा ही मुख्य धर्म है, पंडितों के लिए स्वच्छ उपदेश देना जिससे मनुष्य धर्म को चीन्हें और धर्म में योजित हो यही मुख्य धर्म है, धनाढ्यों के लिए धन का संयम करना और देशहित के निमित्त मदत देना कि समुदाय पले यही धर्म है, विद्वानों के लिए उत्तमोत्तम विद्या का प्रचार करना जिससे सब मनुष्य अपना २ कर्तव्य समझ लें और अपनी जीविका में प्रवृत्त हों यही धर्म है। सारांश यह है कि मनुष्य मात्र का मुख्य धर्म प्राणी मात्र से प्रेम अर्थात् मूर्तिपूजन है। बिना मूर्ति पूजा किए किसी को सुख कदापि प्राप्त नहीं होता। जिस शरीर में व गोष्टी में व कुल में व

जिस समाज में व जिस देश में आचार विचार की न्यूनता है वे ही मूर्ति पूजन के रहस्य को नहीं समझते और वहां ही अज्ञान व भ्रान्ति है, उन्हीं को मनुष्य तन पाने का लाभ नहीं प्राप्त होता, और भ्रान्ति से सत्य का ग्रहण नहीं होता और भय नहीं छूटता है। किन्तु जहां पर विचार है वहां सब मूर्ति पूजन के रहस्य को अच्छी तरह समझते हैं व सुखी होते हैं। जैसे दिन में भूत का भय व रस्सी से सर्प की भ्रान्ति नहीं होती, किन्तु अन्धयारी ही में पिशाच भय और सर्प भ्रान्ति होती है।

इसके अतिरिक्त अन्य मानव धर्म नहीं है, जिसको मनुष्य न विचार के पवित्र व पावन धर्म से शीघ्र ही विचलित हो जाते हैं, तिनके रक्षा हेतु मैं समय प्रति समय सब देश में अवतार लिया करता हूं; और धूर्त्त व खलों का नाश करके धर्म संस्थापन करता हूं। इति गीता आशय।

अथ मूर्ति पूजा मण्डन।

प्रायः लिखे पढ़े विद्वान हिन्दुओं के मूर्ति पूजन में कटाक्ष्य करते हैं एवम् सभी देश में छोटी बड़ी जाति पंडित पढ़ अपढ़ सभी मूर्ति पूजन में स्थित हैं। बड़ा ही आश्चर्य्य है कि इस शब्द व्यापार से कैसे मोह विद्वानों को उत्पन्न होते है। जिस प्रकार तृण के ओट पहाड़ नहीं देख पड़ता तैसे ही शब्द व्यापार करके व स्वार्थ तत्प-

रता करके धर्म का मन्दिर नहीं देख पड़ता। सोचिए यह विश्व शकलों (Apperance, Shape or forms) में ही है। शकलों से भिन्न कुछ भी नहीं है। उन शकलों में ही आवाज़ें समाई हैं अर्थात् शकल और शब्द के भिन्न कुछ नहीं है। इन्हीं दोनों से प्राणी मात्र का उपयोग, भोग और सम्पर्क रहता है। मनुष्य का व्यवहार, आधार व ईश्वर भावना इन्हीं ही में स्थित है। समझिए जो देख पड़ता है व जिसका गुण बोध होता है वह सब शकल है, सूक्ष्म से सूक्ष्म शकल चर्म चक्षुसे नहीं देख पड़ते किन्तु उनका गुण बोध होता है। गुण से गुणी का बोध होता है यह निरविवाद सिद्ध है। जैसे स्पर्श से वायु का बोध होता है। धूप से सूर्य्य का। गरमी से अग्नि का बोध होता है। तैसे ही ईश्वर का बोध उसकी शक्ति से होता है। इससे ईश्वर साकार है। समस्त वस्तु के शकलों की व उनके नाम, गुण, अवस्था के विवरण में जो समस्त संज्ञा हैं वे सब शब्द ही हैं, जितने शास्त्र रचना हैं वे सब अक्षर ही हैं अं।- उन अक्षरों का बोध शब्द ही करके कहा जाता है। सारांश यह है कि विश्व में शकल व शब्द दो के भिन्न तीसरी वस्तु ही नहीं तो तीसरे की पूजन किसकी होती है और किसकी शुश्रूषा, किसकी रक्षा, किस से स्नेह होता है। जो मन्त्र है, जो कलमा है, जो बायबिल है, जो गायत्री है, जो स्तुति है वह सब मूर्तिमान के गुण के गाथा ही हैं। और धर्म पुस्तकों में उन्हीं के नबी पैग़म्बरों का जीवन चरित्र है। उन्हीं के इबारत से सब

उन पर प्रेम करते हैं, उनको सिर झुकाते हैं, उन्हीं की यादगारी में कोई गिरजा में मूर्ति रखते हैं, कोई तसवीरें रखते हैं, कोई सड़क पर खड़ी करा देते हैं, मुसलमान लोग मसजिद में एक स्थान मुकर्रर करते हैं, मक्का मदीना को उसका एक स्थान नियत किया है। बहुत इबादत स्तुत ही से उसका चिंतवन करते हैं। कोई अग्नि कोई सूर्य्य कोई माता पिता राजा गुरु वा जेष्ट श्रेष्ट ही को सिर झुकाते हैं। कोई अन्न कोई नदी कोई पेड़ कोई विशेष स्थान ही पर पहुंच कर सिर झुकाते हैं। यह तो धर्म मार्ग में मूर्ति पूजन सिद्ध है। अब व्यवहारिक समझिए। जिस प्रकार राज्य धन का जो व्यक्ति जैसा रक्षा करता है वैसा ही वह राजा का प्यारा होता है, इसी प्रकार विश्व की समस्त शकलें उस शक्ति का राज्य धन है, उनकी पूजा करना अर्थात रक्षा करना ही देशभक्ति है, उसी को ईश्वर भक्ति कहते हैं। जैसे जो राज्य धन को बिगाड़ता है वह दंड पाता है, और पापी होता है, उसी प्रकार जो मूर्ति पूजन से प्रेम नहीं करता है वह कदापि धर्मावलम्बी नहीं। बिना मूर्ति पूजे किसी मनुष्य की स्थिति नहीं दृढ़ रह सकती अर्थात जन्म से मरण पर्य्यन्त मूर्ति पूजा ही हुवा करती है और इसी से मनुष्य को सुख होता है यथा—

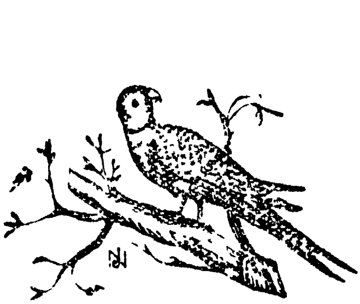
नहि कश्चित् क्षणमपि जात तिष्ठत्व कर्म कृत्

सारांश यह है कि सभी देश की छोटी बड़ी जाति पढ़,

अपढ़, पंडित्, मूर्ख सब सप्रेम मूर्ति पूजन करते हैं या मजबूरन करते हैं; नहीं करते यह कदापि नहीं सिद्ध हो सकता। जब कि मनुष्य जर जोड़ू ज़मीन को भजते रहते हैं तथा अपनी भलाई के लिए यत्न करते रहते हैं तब क्या मूर्ति पूजन सिद्ध नहीं है। पूजन का अर्थ केवल स्नेह व प्रेम है जो उसका अर्थ अन्य समझते हैं वही भ्रम में है। इसका विशेष विवर्ण गुरूपदेश में देंगे।

इति मूर्ति पूजन

इति श्री हरिदास विरचितम् निर्णय द्वैत भेद
कल्पना खंडन व धर्म निरूपण व मूर्ति
पूजा मण्डन नाम द्वितीयो मयूखः।



अखण्ड मण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम् ।
तत् पदं दर्शितं येन तस्मै श्रीगुरुवे नमः ॥

अथ सृष्टि प्रकरण ।

सब मतों के धर्म पुस्तकों में केवल तीन विषय ही मुख्य हैं १ ईश्वर निश्चय । २ सृष्टि उत्पत्ति । ३ मनुष्य का धर्म । जो सुख हेतु यत्न उपदेश उपाय क्रिया साधन आदि हैं । इनमें दो विषय ईश्वर निश्चय तथा मनुष्य का धर्म लिख चुके हैं, अब सृष्टि क्रम को लिखते हैं ।

अथ सृष्टि क्रम ।

जिस स्थान में नाना रूप की शकलें भरी हैं उसको सृष्टि कहते हैं । यह सृष्टि अनादि और ईश्वर रूप सिद्ध है तथा अपने शक्ति से ही स्थित है "सूर्य्याचन्द्रमसौधाता यथा पूर्वमकल्पयत्" "नजायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः" इसके दो विभाग किए जा सकते हैं । (१) आकाशस्थ वस्तु, ग्रह, नक्षत्रादि । (२) पार्थिव पदार्थ जैसे धातु, बनस्पति और प्राणी । इन दोनों प्रकार की रचना में संयोग तथा काल ही निमित्त कारण है । तिससे एक वस्तु ही नाना प्रकार के रूप के शकलों में हुई है । रचना के विषय में ठीक २ भेद अद्यावधि निश्चित नहीं हुआ । कारण सृष्टि अनन्त है, मनुष्य की दृष्टि परमित है। परमित दृष्टि से अत्यन्त दूरी का अनुसन्धान सम्भव नहीं है ।

अनुभव तथा प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध होता है कि सृष्टि क्रम का बीज शब्द अथवा आकृति ही हैं अन्य कुछ नहीं है। यह शब्द और आकृति अगोचर में अपनी महिमा में व्याप रहे हैं। संयोग करके प्रकाशमान् अर्थात् गोचर होता रहता है, वियोग करके गोचर से अगोचर गति में प्रतिष्ठित रहता है।

सोचिए-(१) विश्व की सम्पूर्ण वस्तु का या तो आकाशस्थ गर्भ से या भू गर्भ से या उदर गर्भ से प्रादुर्भाव होता है। यही मानो अगोचर से गोचर हुआ है। सम्पूर्ण पार्थिव पदार्थ का लय पृथ्वी में होता है, यही मानो गोचर से अगोचर गति में प्रतिष्ठित होता है।

गोचर अगोचर का उदाहरण :-पहचानी व कुटुम्बी परदेश में है तब मानो अगोचर है। जब परदेश से वापस आकर मिलता है तब अगोचर से गोचर हुआ। (२) आकाशस्थ नक्षत्र दिन में रहते हैं तो मानो अगोचर हैं, वे रात को देख पड़ते हैं यही मानो गोचर हुआ। दिन रात के संयोग से गोचर व अगोचर हुआ करते हैं। इसी प्रकार समस्त शकलें अगोचर में स्थित रहती हैं पर उनके तलाश से व ख़रीदने से इधर उधर जाती हैं तब गोचर होती हैं। और शब्द ही स्वयम् विश्व रूप हुआ है आप्तों का अनुमान है परमाणुओं के समुद्र को शब्द सिद्ध किया है, वे ही परमाणु जब इच्छित अवस्था से आपस में रगड़ते हैं तब उससे शब्द निकलता है। उसी शब्द को ॐ

सिद्ध किया है, वे ही परमाणु स्वयम् संयोग हो हो कर स्थूलाकार नाना चित्र विचित्र की शकलों में हुए हैं, और यूरूप के विद्वानों ने सिद्ध किया है कि शब्द से नाना शकलें बन जाती हैं, और शास्त्र का भी सिद्धान्त है कि शब्द ही स्वयम् विश्व रूप हुआ है। समझिए—

अकाश—शब्द वायु—स्पर्श अग्नि—रूप जल—रस	इन चारों तत्व की जुदी २ आठ संज्ञा कल्पना हुई हैं, गुण गुणी, नाम नामी, देह देही सबों की दो २ कल्पना हुई हैं। इससे शब्द ही से विश्व हुआ।

इसमें प्रायः सभी आश्चर्य करते हैं, एक गुण को शब्द, दो गुण को वायु, तीन गुण को अग्नि, चार गुण के रूप को जल, पांच गुण को पृथ्वी शब्द में कल्पना किया है। अर्थात् शब्द से वायु, वायु के गुण से स्पर्श हुवा, तब वह शकल हुवा। स्पर्श में शब्द व स्पर्श दो गुण प्रतीत हुए। जब वह दो गुण हो स्पर्श हुए तो रूप बना देख पड़ा, अर्थात् बोध हुवा। वायु स्पर्श के बोध ही से जानी जाती है। जो बोध है वही आकृति है। तब फिर क्या सन्देह है कि शब्द से विश्व कैसे हो जाता है। विचारिए आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल उत्पन्न होता है यह सिद्ध है। जब तीन गुण के परमाणु एकत्रित होते हैं तब जीव जल रूप हो उसमें स्वाद गुण प्रगट होता है। वही जल रूप कीड़ा* ही जीव रूप दृष्टिगोचर हुआ

* जल में दुरबीन से देखने से कीड़े ही कीड़े दिखाई देते हैं।

और पृथ्वी के संसर्ग से वही जीव क्रम २ नाना विचित्र २ अनन्त शकलों में व्यक्त हुआ है, इसी से सब शकलों की संज्ञा जीव है।

जो विद्वान सृष्टि क्रम को अनादि नहीं कहते उनके विचार अवलम्बन में त्रुटि है। हां, मनुष्य अन्य प्राणियों के पीछे बना है, यूरप के विद्वान ने सिद्ध किया है कि ये बन्दर के रूपान्तर हुए हैं, यही सही मालूम देता है। इस अनुमान पर कि मनुष्य में जातित्व व्यवसाय व भाषा कोई भी नेचुरल (Natural) नहीं है जैसी कि प्रत्येक अन्य प्राणियों के जाति भाषा व जाति रचना नियम नेचुरल होता है। मनुष्य में प्रपंच रचना और अन्य के गुण कर्म का अनुकरण करना यह नेचुरल स्वभाव है। यही नेचुरल स्वभाव बन्दर के भी है। कारण बन्दर मनुष्य का मुख विदुराता है अन्य कोई पशु पक्षी नहीं विदुराते। मनुष्य ने अन्य २ प्राणियों से व्यवसाय सीखा है। व बोली संसर्ग प्रति जुदी २ होती है। इस सिद्धान्त से सिद्ध होता है कि मनुष्य पहले जन्मा होता तो उसमें भी अवश्य कोई जातीय बोली व जातीय रचना नेचुरल होती। मनुष्य सब के पश्चात् हुआ, और उनके अनुकरण कर्म करना सीखा। इस अनुभव से यह भी सिद्ध होता है कि मानुषी रचित प्रपंच अल्प ही काल से उदय हुए हैं। जब से प्रपंच प्रगट हुआ तब ही से विद्वानों ने सृष्टि क्रम की स्थिति किया है। इसी प्रपंच को दुनियां की तरक्की विद्वान् कहते हैं सो स्वयम् विचारेंगे कि पृथक् २

के क्या क्या ख्याल होते हैं, इससे मनुष्य रचना को वेदान्त वालों ने प्रपंच सिद्ध किया है इत्यादि। अनुभव से सिद्ध है कि यह सृष्टि ईश्वर रूप नित्य है, समस्त वस्तुएं संयोग करके गोचर और वियोग करके अगोचर हुआ करती हैं। वह मनुष्य के मानने करके अर्थात् सिखाए समझाए के अभ्यास से भासित होती हैं; अन्य प्राणी जाति नित्य एक रस ही देखते हैं वे रूपान्तर व नाश प्रतीत नहीं करते। इस प्रकार सृष्टि क्रम हुई व मनुष्य पीछे हुए सिद्ध है। किन्तु आर्य्यसमाज सिद्धान्त में प्रथम युवा स्त्री पुरुष बहुत हुए ऐसा सिद्ध किया है, किन्तु युवा किसके उदर गर्भ से पैदा हुए यह गोल कर रक्खा है। *

इति सृष्टि प्रकरण।

अथ संयोग प्रकरण।

संयोग शब्द का यह भाव है कि एक शकल दूसरे शकल में आकस्मिक या स्वतः मिलना, अर्थात् एक व्यक्ति की वस्तु दूसरे व्यक्ति सजातीय या विजातीय में सम्पर्क करके दूसरे नूतन रूप में हो पड़ती है इसको संयोग कहा है। संयोग उसे कहते हैं कि एक शकल से दूसरी शकल, अथवा एक व्यक्ति से दूसरी

* पृष्ठ १८ में यह भूल से लिख दिया गया है कि आर्य समाज सम्पूर्ण सृष्टि की रचना स्त्री पुरुष से मानता है।

व्यक्ति अथवा एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ के सम्मिलन को संयोग कहते हैं।

अथ संयोग निरूपण।

(आकाश) पृथ्वी ग्रह नक्षत्रादि समस्त विश्व आकाश में स्थित है। इससे आकाश अनन्त सिद्ध है, पर वह आकाश संयोग क्रिया से घटाकाश, मठाकाश रूप प्रतीत होता है और वह स्वच्छ निर्विकार आकाश, संयोग से धुंधला, बिजली, बादल, आंधी, पानी वाला अनेक रूप का देख पड़ता है। शब्द संयोग क्रिया से भयानक व प्रीतिकर अर्थात् रोचक, भयानक व अनन्त भांति की आवाज़ में देख पड़ता है। (वायु) संयोग क्रिया से स्पन्दता, निस्पन्दता होती रहती है तथा गर्म, ठण्ढा, सुगंधित दुर्गंधित तथा रोग कारक, नीरोग कारक होता रहता है। अग्नि अथवा ज्योति जैसे पदार्थ से संयोग करती है वैसे ही गुणों से संयुक्त प्रतीत होती हैं। जैसे सूर्य की ज्योति जिस रंग के और जिस आकार के और जितने बड़े कांच में हो कर आती है उसी रंग उसी आकार की और उतनी ही बड़ी दिखाई देती है। (जल) आकाश से स्वच्छ ही वर्षता है पर भूमि के संयोग से-गंदला (गुड़हिल) खारी, मीठा, हलका, भारी, लम्बा, चौड़ा, गहरा, उथला, अनेक प्रकार का हो जाता है, तथा वनस्पति के संसर्ग से बहुरंगी षट्

रस स्वादी, गर्म, ठण्ढा, विष अमृत गुण का हो जाता है, अग्नि के संसर्ग से भाफ़ हो जाता है, वायु के संयोग से ओला व बर्फ हो जाता है, प्राणी के संसर्ग में स्वाती नक्षत्र के पानी से गौ लोचन, मोती, गजमुक्ता व बांस के संसर्ग से वंशलोचन हो जाता है। (पृथ्वी) पृथक् २ देश की ज़मीन में भिन्न २ प्रकार की वस्तु पैदा होती है, जैसे केसर कशमीर ही में पैदा होती है। किसी देश में कोई रत्न, कोई धातु, कोई पशु पक्षी, कोई जिन्स, किसी देश में कोई किराना तथा किसी देश व ज़मीन में सोना चांदी आदि धातु, तथा रत्नादि तथा चंदन, मूंगा, लायची, बड़ी लायची, तथा मेवादि फल व पुष्पादि होते हैं-तथा वेही जाति के बीज भूमि के तासीर से पृथक् २ डौल के हुवा करते हैं। संयोग करके थोड़े २ फासले की ज़मीन की मिट्टी का रूप तथा स्वभाव भी भिन्न २ रहता है, तथा किसी ज़मीन में ज्यादा पैदावार होती है और किसी ज़मीन की तासीर से थोड़ी पैदावार हुवा करती है। उदाहरण जैसे मनुष्य हिन्दुस्थानी, काबुली, रूसी, जापानी आदि के पृथक् २ ढाल चाल रंग होते हैं । इसी प्रकार पशु पक्षी व अन्न भी वही जाति के भिन्न डौल व गुण के होते हैं। स्थान सम्बन्ध अत्यन्त बलिष्ट होता है। देखो अपने घर में निर्बल भी बली ही बना रहता है। तथा स्थान छूटने पर बली भी निर्बल सा हो जाता है। इसी

प्रकार संग कुसंग का फल भी अत्यन्त बलिष्ट है। देखो, वही पानी की बूंद कमल के पत्र पर मोती सा प्रतीत होता है और वही पानी तप्त लोहे पर झुलस कर नष्ट हो जाता है। तैसाही जिनके निर्दई से संसर्ग हैं यथा पालतू जानवर, कुटुम्बी, जाति व नाता वाले तथा मालिक, मातहत सभी को कष्ट प्राप्त होता है। तांबा रांगे के संयोग से फूल हो जाता है और जस्ता व ताम्बा के संयोग से पीतल रूप हो जाता है। ये सब एक मात्र संयोग ही की भिन्नता व विचित्रता है। ये ही आकृति तथा शब्द नाना रूप, नानाकार हुए हैं। सूर्य्य आदि नक्षत्र तथा तत्व आदि के रूप में जो भिन्नता प्रतीत होती है केवल संयोग ही की विचित्रता है। संयोग का ही कारण है कि विश्व की सम्पूर्ण वस्तु भिन्न २ रूप, भिन्न २ गुण, भिन्न २ शक्ति की होती है।

रचना में वा पालन में दो भांति के संयोग से समस्त जगत् का कार्य्य स्वयम् हुआ करता है अर्थात् समस्त वस्तु कारण से कार्य्यरूप होते रहते हैं। सृष्टि क्रम के फैलाव का तथा सिमिटने का एक मात्र कारण संयोग ही है। समय कुसमय, रोग निरोग, बसना, उजड़ना, तरक्क़ी तनज्ज़ुली, मोटाई, दुबलाई, सुख दुःख, किसी मुल्क में ज्यादा ठंढ, किसी मुल्क में ज्यादा गर्मी, किसी मुल्क में बड़ी रात्रि, किसी मुल्क में बड़ा दिन, किसी में नित्य पानी बर-सना व ज्यादा वर्षा से फ़सल होना, किसी में अल्प बरसना

उसी में फसल पैदा होना, किसी समय धातु की, किसी समय मूल की, किसी समय जीव की, ज्यादा उत्पत्ति होती है व किसी समय ज्यादा नाश होता है। संयोग ही से सूर्य्य कुहिरा से तिरोहित होजाता है तथा संयोग ही से भूकम्प होता है। सारांश यह है कि संयोग ही से उत्पत्ति हुवा करती है, संयोग ही से पोषण होता है, संयोग ही से सृष्टि क्रम का लय हुवा करता है। आकृति तथा शब्द नित्य ज्यों के त्यों ही विद्यमान रहते हैं।

रचना व पालन में संयोग के भेद को समझिये—

(१) प्रथम रचना में दो भेद हैं।

क) गर्भाधान संस्कार समय में जैसा संसर्ग हो पड़ता है, जैसे खेत में बोने के समय एक ही बीज रहता है, वही खेत है, वही वक्त है, किन्तु हरएक के अंकुर के डाल, पत्ता, बाली छोटी बड़ी होती हैं।

(ख) गर्भ के पोषण तक पश्चात् जो संसर्ग होता है उसके प्रभाव से ही हर जाति की वस्तु में एक व्यक्ति के अपेक्षा हर अवयवों में भिन्नता होती है। पोषण के समय में संसर्ग के विकार से ही अन्धा, काना, बहरा, गूंगा, छः आंगुर का व हिजड़ा आदि अनेक रोगी पैदा हुआ करते हैं।

इस रचना संयोग को प्रारब्ध, भावी, और भाग्य कहते हैं यह अमिट है, अर्थात् इसका यत्न नहीं हो सकता। जो जिस कार्य्य करने के लिए पैदा हुआ है वैसा उसका रूप व उसके पहचान का लक्षण है। अर्थात् पुनर्जन्म आदि कुछ नहीं है केवल भय है, जैसे लड़के के रक्षा निमित्त हौवा कल्पना हुआ है।

दूसरा पालन संयोग जो गर्भ से निकल कर मरण पर्य्यन्त जो शारीरिक व्यवसाय में प्रति क्षण सम्पर्क हुआ करते हैं, इस पालन संयोग को क्षणिक संयोग कहते हैं। इस क्षणिक संसर्ग का मनुष्य सुधार कर सकता है। और इसी क्षणिक संसर्ग के वसूल से ही मनुष्य मात्र का स्वभाव प्रतिक्षण बदला करता है। तथा जो मनुष्य क्षणिक संयोग का सुधार नहीं करता उसको कदापि सुख मिलता नहीं।

पालन संयोग में ५ प्रकार से संयोग मिलता है।

(क) स्थान यथा अपना घर, पराया घर, परदेश, मेला, सभा, रणस्थल, बाजार, कचहरी, शराबखाना, मदकखाना, मन्दिर, गिरजा इन शकलों में जो संयोग भिड़ता है वह स्थान सम्बन्ध कहा है।

(ख) सम्बन्ध, गृहस्थी, कुटुम्ब, जाति, नाता सहवास, अफसरी, मातहती आदि के सम्बन्ध को सम्बन्ध कहा है।

(ग)-समय, जाड़ा, गर्मी, वर्षा, रात, दिन, सवेरा, दुपहर, शाम तथा काल सुकाल, खुशी रंजीदगी, के वक्त को समय कहा है।

(घ)-अवस्था, लड़कई, जवानी, बुढ़ापा, रोगी, निरोगता, भूख, प्यास, काम, क्रोध, मोह, लोभ, मद, मात्सर्य आदि को अवस्था कहा है।

(ङ)-प्रयोजन (गर्ज) में जो जो संसर्ग भिड़ता है उसको प्रयोजन कहा है।

ये पांच भांति के पालन संयोग को क्षणिक संयोग कहा है। रचना के संयोग वा पालन संयोग करके प्राणी मात्र के तथा मनुष्य के स्वभाव में प्रवृत्ति के लिए प्रेरणशक्ति उदय हुवा करती है, उसी को मन कहा है। तिससे स्वे स्वे कर्म में सब प्रवृत्त होते हैं। यथा–

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।

इसी से आप्तों ने मनुष्य में आचार विचार की सीमा किया है कि जिस क्षणिक संसर्ग करके परिणाम में दुःख हो उसका वह सुधार करे। इसी को पुरुषार्थ कहा है। बिना मन रोके अर्थात् क्षणिक संयोग के निवारण किये कदापि सुख प्राप्त नहीं होता। संसर्ग ही से मनुष्य का उत्साह संकुचित व विकाशित हुआ करता है।

इति संयोग।

अथ काल क्रम ।

जिस गति में समस्त वस्तुओं का प्रतिक्षण परिवर्तन हुआ करता है तिसको काल, समय, नियम, तथा माया कहते हैं। आप्तों ने गति ही को ईश्वरीय शक्ति निश्चय किया है। गति के सूक्ष्मता का बोध चर्म चक्षु से नहीं होता, अनुभव से होता है। १०० पुरइन के पत्ता के बंडल को सूजा से छेदते हैं तो कौन पत्ता कब छिदा लख नहीं पड़ता। तथा अंकुर वा शिशु के प्रतिक्षण का बाढ़ नहीं लख पड़ता। गति का अनुभव सब को होता है पर उस गति का रूप क्या है किसी को अनुभव नहीं होता। अब विचारिए ईश्वर सत्य व सिद्ध हुवा व गोचर है? काल ही के प्रभाव से सृष्टि क्रम नियम रूप में स्थित है।

कालः सृजति भूतानि कालः संहरते प्रजाः।
कालः सुप्तेषु जागर्ति कालो हि दुरतिक्रमः॥
अतीताऽनागता भावा ये च वर्तन्ति साम्प्रतम्।
तान् कालनिर्मितान् बुद्ध्वा संज्ञांहातु मर्हसि॥

समस्त शकलों के वस्तु अगोचर गर्भ में स्थित रहते हैं, जिस वस्तु का जब समय होता है तब वह दृष्टिगोचर होती है। इसी प्रकार मनुष्य के भावी चिन्ह के संस्कार का जब समय आता है तब उदय हुआ करता है यह ध्रुव है। इस लिए मनुष्य का कर्तव्य है कि तृष्णा करके किसी प्रकार प्राणियों को दुःख न दें, चोरी न

करें, कृतघ्नता न करें, देखो बुरा कर्म करने से कोई भी मनुष्य सुख प्राप्त करता हो या धनी हुआ हो ऐसे पुष्टि का उदाहरण कोई नहीं देख पड़ता।

उदाहरण :—जिस २ जाति का जो जो पृथक् २ समय गर्भाधान का नियम है उसी ताव में बीज जमता है, तथा जो २ अवधि जिस २ बीज की गर्भ में पोषण नियम है उतने २ गति में वह स्थूलाकार होता है। गर्भ से दृष्टिगोचर होने के बाद जिस २ बीज की जितनी २ गति में जवानी आने का नियम है उतने २ गति में जवानी आती है, फिर शनैः २ गति ही के परिवर्नन से क्षीण होती है, अर्थात् जिस २ की जो आयु नियत है तब भर वह देख पड़ती है, फिर सूक्ष्म से सूक्ष्म रूप हो अगोचर हो जाती हैं। जैसे रत्नादि सहस्त्रों वर्षों में बनते हैं, सोना चांदी आदि धातु भी बहुत काल में तयार होते हैं। प्राणियों में पशु कोई ३ वर्ष में, कोई १२ महीने में, कोई ११, कोई १०, कोई ८, कोई ६, कोई ३, महीने में व्याती हैं। पक्षी इत्यादि कोई नित्य प्रति अण्डा देते हैं। कई प्रकार के कीड़े रात्र भर में करोड़ों हो जाते हैं। बनस्पतियों में भी इसी प्रकार सब नेचुरल नियम है।

स्वे स्वे कालेपि गृह्णन्ति पुष्पाणि च फलानि च।

इन सब क्रिया का नियम रूप में स्थित रहना यही गति की शक्ति प्रत्यक्ष अनुभव है। जाड़ा से गर्मी, गर्मी से वर्षा, वर्षा से फिर जाड़ा, रात्रि से दिन, दिन से रात्रि,

सुबह से दुपहर, दुपहर से सांझ, नित्य यह गति नियम रूप स्थित है। जैसे २ गति का परिवर्तन होता है तैसे २ शकलों का रूप परिवर्तन होता है। वैसे ही २ शकलों की जुदी २ संज्ञा मनुष्य ने कल्पना किया है, वस्तु वही है। गति के परिवर्तन में संज्ञा का परिवर्तन कल्पना किया है यही द्वैतता का प्रपञ्च है।

वह तो नियम रूप नित्य एक सा है. मनुष्य ने मानने के अभ्यास से गतियों में नाना कल्पना किया है। अन्य प्राणी जाति गति के भेद या संज्ञा के भेद को नहीं मानते व समझते हैं।

इति काल क्रम।

अथ प्रकृति प्रकरण।

गति के नियम को प्रकृति कहा है अर्थात् जिस शकल की वस्तु में जो २ नेचुरल स्वभाव व गुण हैं तथा जो २ गति नियम हैं वैसे २ शकलों में वही नेचुरल स्वभाव व गुण व गति नियम रूप होते हैं, उदाहरण- जैसे प्राणि जातियों में, सिंह में वीरता, काले सर्प में विष, मधुमक्खी में मधु बनाने की शक्ति, बया पक्षी में मकान बनाने की, मकड़ी में जाल बुनने की, हज़ार दास्तानों में मधुर बोली बोलने की, भृङ्गी कीट में अन्य जाति के कोड़े से स्वानुरूप आकृति करके संतान बनाने की शक्ति, बाज पक्षी में हिम्मत, पतंगों का

प्रकाश में मोहित होकर जल मरना, सूअर का गलीज खाना, कई प्रकार के पशु पक्षी ऐसे हैं जो मांस नहीं खाते, न जीव मारते हैं, जिन २ प्राणियों का दांव घात तथा कपटाचार से अपनी उदर पूर्ती करने का जो स्वभाव है वही जाति प्रति होना, मनुष्य में प्रपञ्च रहना, ये सब दिन ऐसे ही आकार से अपने व्यापारों में तत्पर देख पड़ते हैं। इसी प्रकार धातु अर्थात् खनिज पदार्थ जैसे सोना, चांदी आदि धातु व अन्य मिट्टी इत्यादि ये सब दिन अपने २ रूप गुण के देख पड़ते हैं। मूल तथा बनस्पतियों में जो जिस रूप, गुण, गंध, स्वाद, तथा चाल ढाल के रहते हैं वे ज्यों के त्यों ही रहते हैं। जैसे नीम कड़वी, हल्दी पीली, गन्ना मीठा, निम्बू खट्टा, काली मिर्च, लाल मिर्च, हड़, सोंठ, पीपल, आदि के स्वाद, गुण, गंध, ज्यों के त्यों बने रहते हैं। यह भी प्रकृति का नियम है कि उत्तमोत्तम पदार्थ क्वचित् ही होते हैं। उदाहरण:-मनुष्यों में सत्यवादी, दयालु, न्यायी, रूपवान्, हाजिरजवाब, साहसी, उदार, बली, नीरोग, पारंगत विद्वान् तथा देशभक्त विरले ही होते हैं। उत्तमोत्तम बड़ा रत्न, प्रकाशमान्, सुडौल, गहरे रंग का, स्वच्छ, बेदाग विरला ही होता है। सोना भी और धातुओं से कम ही होता है। उत्तमोत्तम गुणवान्, रूपवान्, हाथी, घोड़ा, गाय, गाने वाले पक्षी क्वचित् ही होते हैं। उत्तमोत्तम बनस्पति जैसे कीमियां की पत्ती, संजीवनी अप्राप्य ही हैं।

उत्तम जो होते हैं वे पालन वाले होते हैं, उनसे समुदाय के लोग पलते हैं। जैसे एक बुद्धिमान, उत्साही, व्यवसाई और परोपकारी पुरुष कई सामान्य पुरुषों को पालन करता है। अथवा यों कहो कि जो २ विभूतिमान् सत्व हैं वे औरों के आधार हैं, जैसे सूर्य्य प्राणी मात्र के जीवन का आधार है। धर्म तत्व के विषय में जितनी धर्म पुस्तकें हैं तिनमें तीन ही विषय हैं (१) ईश्वर निश्चय, (२) सृष्टि रचना, (३) मनुष्य का धर्म। जिस करके सुख प्राप्त हो इन तीनों विषयों को मैं यहां तक में समाप्त करता हूं, तिससे आशा है विद्वानों को पूर्ण सन्तोष होगा और अद्वैत सत्य है ऐसा दृढ़ निश्चय होगा। अतएव तत्वज्ञान का दर्शन कराता हूं।

अथ सृष्टि क्रम समाप्त।

अथ तत्वज्ञान।

अखण्ड मण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम्।
तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्रीगुरुवे नमः॥
मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्द् यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्वतः॥

मनुष्य वही है जो धर्म के तत्व को समझे व सत्यासत्य का विवेचन करे। "गतिशक्ति" जो अस्तित्व है उसी को शक्ति, उसी को बीज कहा है। प्रमाण :-

यजुर्वेद अ० ३२ मंत्र ४।

एषो ह देवः प्रदिशो ऽनुसर्वाः पूर्वो हि जातः स उ गर्भे अन्तः ।
स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ् जना तिष्ठति सर्वतो मुखः ॥

अथवा यों मानो

वदन्ति तत् तत्वविदः तत्वं यज्ज्ञानमद्वयम् ।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ॥

स्वच्छ बीज निरूपण !

पीपल का बीज जो फोकलों से घिरा रहता है वह स्थूल रूप है। बीज के भीतर जो अणु कण व्याप्त हैं उन में जिस अणु कण का खण्डन नहीं हो सकता वही बीज का सार रूप है, उसी में वृक्ष का समस्त अंग स्थित है, वही शक्ति रूप और चैतन्य रूप है और अलक्ष है।

अथ स्फुरण शक्ति निरूपण।

"शब्द को ही स्फुरण भी कहा है" अर्थात् गति की अवस्था को स्फुरण कहा है। सोचिए शरीर में जो जान है वह शब्द ही है। शुषुप्ति अवस्था में जान के भिन्न न ज्ञान रहता है, न रूप है, न क्रिया है। इसी से आप्तों ने शुषुप्ति अवस्था को ईश्वर रूप कहा है। यथा जहां पर न सूर्य का प्रकाश है, न चन्द्रमा का प्रकाश है, न

अग्नि अर्थात् दीपक का प्रकाश है, न कोई वस्तु है उस अवस्था के पीछे जब स्वप्न अवस्था आती है तब वही ज्ञान, स्वप्न के नाना भांति के रूप, क्रिया युत हो देख पड़ता है। इस अनुभव से सिद्ध है कि वही ज्ञान का प्रकाश निद्रा खुलने पर जगत् रूप देख पड़ता है. अर्थात् ज्ञान का प्रकाश ही नाना शकलों में जगत् रूप हो देख पड़ता है, जैसे संयोग क्रिया से आसमान में नाना शकल के विचित्र २ रूप हो जाते हैं वैसे ही शब्द के आर्थिक अवस्था में विश्वरूप हो जाता है। इसी पर यह प्रमाण है– "एकोहम वहुस्यामा" इस से यह सिद्ध हुआ कि शब्द ही आकृति रूप हुआ है। योगियों ने इसी प्रकाश को अलौकिक प्रभा माना है और इसके परे उसके भेद के कथन में अनिर्वचनीय हो गए हैं। कारण यह है कि किसी भाषा के शब्द व्यापार में उसका भाव ठीक२ बोध कराने को अनुकूल शब्द नहीं हैं। जैसे मैथुन का सुख तथा घृत में क्या स्वाद है, उसके समझाने को अनुकूल शब्द नहीं है केवल अनुभव सिद्ध है। योगिराज इस्के परे नेति २ पुकार के समाधिस्थ होकर शरीर से बेसुध और मग्न हो जाते हैं। उसी अवस्था में उनके हृदय में विश्वरूप का दर्शन होने लगता है। जैसे श्री रामचन्द्र जी व श्रीकृष्ण भगवान ने अपने मुख में ही अपनी २ माता को व अर्जुन को विश्व रूप का दर्शन कराया था। सारांश यह है कि ईश्वर दर्शन शरीर की ममता त्यागने ही से होता है। इसी अवस्था को परम

पद, परम गति, कैवल्य पद पुकारा है। सोचिए, स्वप्न का रूप जब ही प्रतीत होता है जब अपने शरीर की सुध नहीं रहती। जब तक शरीर की सुध रहती है तब तक स्वप्न नहीं होता।

अथ विराट् रूप निरूपण।

जो स्थान भांति २ के विचित्र २ शकलों से भरा है उसको ही सृष्टि कहा है। ऐसी २ अनन्त सृष्टि के रूप को विराट् शब्द से पुकारा है। यह सिद्ध कर चुके हैं कि सम्पूर्ण विश्व आकृति व शब्द मय ही है, और शब्द ही आकृति हुआ है, आकृति समुदाय ही विश्व रूप हुआ है। समझिये, जो देख पड़ता है वह सब आकृति है, जो सुन पड़ता है वह शब्द ही है। इसके परे अन्य कोई वस्तु विश्व में देख नहीं पड़ती। ये ही मुख्य दो वस्तु हैं, ये ही समस्त विश्व के उपादान कारण हैं, ये ही निमित्त कारण हैं, ये ही साधारण कारण हैं, ये ही विश्व है और ये ही जगत् स्थिति और जगत् व्यवहार के आधार हुए हैं। इनसे परे और वस्तु नहीं, और दृश्य नहीं, और आधार नहीं। तब क्या कोई विद्वान विश्व में तीसरी वस्तु सिद्ध कर सकता है?

सारा ब्रह्माण्ड चार जाति के रूप में नाना प्रकार के विचित्र २ शकलों से भरा है।

(१) प्रथम जाति का शकल आकाशस्थ ग्रह नक्षत्रादि है।

(२) दूसरे जाति का शकल पार्थिव पदार्थ अर्थात् वस्तु है। वह वस्तु तीन जाति के नाना विचित्र २ शकलों में हैं। धातु, खनिज पदार्थ, और प्राणी। वस्तु को ही जीव और जगत् पुकारा है। वस्तु के भिन्न न जगत् है न जीव है।

संयोग घटना—सम्पूर्ण वस्तु संयोग ही से उत्पन्न होती है, सम्पूर्ण वस्तु का पोषण भी संयोग ही से होता है, और सम्पूर्ण वस्तु का नाश भी संयोग ही से होता है।

काल गति—जो नियम रूप है, तथा जिससे उलट, फेर, आना जाना व रूपान्तर होता रहता है।

पूर्वोक्त चारों प्रकार के रूप का दृश्य आकृति ही है। आकृति से भिन्न कुछ नहीं है, इन चारों प्रकार के दृश्य का लय सुषुप्ति अवस्था अथवा समाधि अवस्था में होता है और यह नियम है कि जो अन्त में रहे वही आदि है, इससे यह सिद्ध हुआ कि शब्द से उत्पत्ति, शब्द से पालन व शब्द ही में विश्व का लय होता रहता है। सम्पूर्ण वस्तु पृथ्वी से ही उत्पन्न व पृथ्वी ही में लय होती रहती है अथवा आकाश से उत्पत्ति व आकाश में ही लय होती रहती है। और यह हम पहिले ही कह चुके हैं कि आकश और पृथ्वी शब्द मय है, इससे यह सिद्ध हुआ कि यह विश्व ॐ ही का लीलास्थल है और

ॐ ही की सम्पूर्ण व्यवहार लीला है, अर्थात् ॐ मय ही सब है। अन्य कुछ नहीं है।

"सर्वम् खल्विदं ब्रह्म नेहना नास्ति किञ्चन"
ब्रह्मार्पणं ब्रह्महवि र्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणाहुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्म समाधिना॥

शब्द ॐ के अनुभव का निरूपण।

मनुष्य मात्र का मुख्य ईश्वर ॐ सिद्ध है, कारण ॐ ही शरीर का एक मात्र आधार सिद्ध है। ॐ वह शब्द नहीं है जो रूपान्तर होता रहता है यह स्फुरती वाणी प्रणव है। प्रणव को ही अनाहत शब्द माना है—

"आसीत् मही क्षितामाद्यः प्रणव छन्दसामिवः"

ऐसा लिखा है कि आकाश परमाणु स्वयम् विचरते थे, उनमें संघर्षण से प्रणव सुनाई देता था, जो अलौकिक प्रभा गति रूप से सिद्ध है। यद्यपि अन्य भाषा के सब ईश्वरीय नाम स्वर रूप ही हैं पर वे स्वयम् सिद्ध नहीं हैं, उसकी कल्पना अक्षर वर्ण के संयोग से हुई है। ॐ स्वयम् सिद्ध है। इस अनुभव से योगिराज ने ईश्वर का मुख्य नाम ॐ ही निश्चय किया है। योगिराजों ने शब्द ॐ को यों टटोल के पकड़ा है। (अ) स्वर ही ॐ रूप है। जो प्राणी मात्र के शब्द से तथा श्वास की गति से अनुभव होता है। प्रमाण—"अक्षराणामकारोस्मि" व बालक से प्रथम (अ) ही प्रगट होता

है तथा (आ) स्वर ही से अन्य स्वर व व्यञ्जन बने हैं। इसी अनुभव से (अ) ही सब भाषा के वर्णमाला में अग्र रक्खा गया है। अ, उ, म तीन अमात्रिक वर्ण का एक अक्षर गति रूप में हृदय से प्रादुर्भाव होता है और वह "ॐ" "ओम्" दो रूप से प्रतीत कराया गया है, किन्तु ॐ यह चिन्ह योगाभ्यासियों के आसन के अनुरूप कल्पना हुआ है। प्राणायाम वेला में श्वास की गति पर सुरत लगाने से स्फुरण का उदय होता है, तब प्रथम नाभि से हृदयाकाश तक "अ" उदय होता है। तथा हृदयाकाश से कंठ में वही (अ) (उ) रूप से अनुभव होता है और ब्रह्माण्ड में वही (अ) अनुस्वार विन्दु रूप हो कर लय हो जाता है, और उच्चारण क्रिया में मुख का ओष्ठ बन्द होने पर (म) रूप में समाप्त होता है। इन अनुभवों से ॐ की सिद्धी हुई है। "तज्जपस्तदर्थ भावनम्" और ॐ ही सब मंत्रों में वीज रूप से स्थित हुआ है। सब मंत्रों में ॐ प्रथम कह के पश्चात् शेष मंत्र कहे गए हैं। ॐ ही के अवलम्ब पर वेद स्वरवत् ऋचा में निर्माण हुआ है, इसी से वेद ईश्वर वाक्य मानित हुआ है। ॐ के स्वच्छ उपासी को अनहद शब्द कर्ण द्वारा स्पष्ट सुन पड़ा करता है। शब्द ॐ में अक्षर तत्व बीज अर्थात् स्वभाव शक्ति चमत्कार जल तरंगवत् व्याप्त है। जैसे जल में तरंग व्याप्त है पर वह हवा की स्पन्दता में प्रतीत होता है, तैसा ही शब्द ॐ के आर्थिक

गति में स्वभाव शक्ति चमत्कार का अनुभव होता है। उसी अवस्था के गति को स्फुरण कहा है।

स्वभाव निरूपण।

शब्द में स्वभाव यह है कि शब्द के आर्थिक गति में विकास और बिना अर्थ में संकोच है। जब इच्छा होती है तब ही प्राणी बोलते हैं। जो इच्छा है वही अर्थ है, बिना अर्थ कोई बोलता नहीं। तात्पर्य्य यह है कि शब्द आर्थिक गति में गोचर होता है बिना अर्थ अगोचर रहता है यह स्वभाव है।

शक्ति निरूपण।

विश्व की समस्त वस्तुओं में जो गति है वही बाढ़ है और वही ईश्वरीय शक्ति है। शब्द का प्रभाव उसके आर्थिक गति में बोध होता है और उसी बोली से शक्ति का प्रभाव भी मालूम पड़ता है, जैसे बकरी की बोली से शेर को उसकी निर्बलता का ज्ञान, तथा शेर की बोली से बकरी को उसकी बलवानो का बोध होता है। (२) प्राणी जाति में पृथक २ जाति की जो जाति बोली हैं उनकी बोली से उनको शक्ति का सब लक्ष लेते हैं, जैसे शेर, हाथी, घोड़ा, सर्प आदि में जैसी बलिष्ट बोली है वैसी पक्षी आदि में नहीं है। इसी प्रकार धातु के ठोंक में जैसी कड़ी कड़क है वैसी ध्वनि

काष्ट में नहीं है। काष्ट से अन्न, और अन्न से फल में ध्वनि की उतरोत्तर न्यूनता रहती है जिससे वे अल्प काल ही में घुन सड़ जाते हैं। जिस वस्तु में जितनी ज्यादे मज़बूती रहती है वह उतनी ही ज्यादे टिकती है और फल आदि बहुत जल्द बिगड़ जाते हैं। बादल की गरज, बिजुली की तड़प, हवा की सन-सनाहट, पानी की भन्कार तथा गड़गड़ाहट इन आवाज़ों ही से उनके पृथक २ रूप की ताक़त का बोध होता है। प्राणी जाति की जाति बोली व धातु, मूल के ध्वनि शब्द ही है। जिस शरीर में रोग होता है उसके शब्द की शक्ति घट जाती है। ताकत ज्यादे होने से ही शब्द में कड़क बढ़ती है। दूसरे, शब्द की ही शक्ति से मानुषी शब्द व्यापार में कैसी अद्भुत शक्ति उत्पन्न होती है व हुई है कि शब्द व्यापार ही में सब प्रणीत शास्त्र बने और मर्य्यादा दृढ़ हुई। राजा प्रजा में उसी शब्द व्यापार से अनुकूल व्यवहार स्थित है। शब्द व्यापार की वक्तृता से समुदाय के दिल उलट पुलट हो जाते हैं। क्या करते क्या करने लगते हैं। सारांश यह है कि मानुषी व्यापार में एक मात्र शब्द व्यापार के ही आधार से व्यवहार स्थित है। इन उदाहरणों से यह सिद्ध है कि शब्द ही शक्ति है।

चमत्कार ।

(१) ऐसी सूक्ष्म रूप गति के उदर में ऐसा भारी ब्रह्माण्ड समाया है । (२) परमाणु के उदर में विश्व समाया है । जैसे बीज के उदर में वृक्ष समाया रहता है। ऐसा शब्द का अकथनीय चमत्कार है ।

शब्द ही बोधक है तिसका निरूपण ।

प्राणी मात्र की जाति बोली से अपने २ समुदाय के आभ्यन्तरकि भाव तथा उनकी स्वस्थता व व्यग्रता का बोध हो जाता है, यथा भक्षक भक्ष्य की बोली से व भक्ष्य भक्षक की बोली से जान लेते हैं । बन्दर कौवा आदि प्राणियों के आर्त स्वर को सुन कर शीघ्र ही उनकी रक्षा के लिए एकत्रित हो जाते हैं। गौ चराने वाले की भीत वाणी (कूक) से गाय वृन्द उसकी रक्षा के हेतु चरना छोड़ कर एकत्रित हो जाती हैं-इत्यादिक उदाहरण से सिद्ध हुआ कि वाणी ॐ शक्ति रूप है, व वाणी ॐ ही बोधक रूप है और सारा ब्रह्माण्ड अक्षर मय ही है । इसी पर यह वाक्य है। "एकं ब्रह्म द्वितीयो नास्ति"

शब्द व आकृति के धर्म में ऐक्यता का निरूपण ।

विश्व के सम्पूर्ण प्रकार व जाति के पदार्थों के स्थूलाकार शरीर में प्रति अवयव के भीतर बाहर चिन्ह प्रतिचिन्ह

कदली स्तम्भवत् समाये हुए हैं, तैसा ही प्रति चिन्ह के भीतर बाहर अवकाश भी व्याप्त हुआ है; ऐसा कोई भी चिन्ह नहीं है जो अवकाश रहित हो, और आकृति के अवकाश से ही शब्द की उच्चारण क्रिया व ध्वनि प्रगट होती है, एवं आकृति में शब्द ही शक्ति रूप चिन्ह है। जिस प्रकार गुण से गुणी और गुणी से गुण की पृथकता नहीं होती, उसी प्रकार आकृति से शब्द और शब्द से आकृति की भी पृथकता नहीं होती, इनमें "धर्म बीजात् मूलम् मूलात् बीजम्" सदृश है, जैसे— बीज से वृक्ष और वृक्ष से बीज होता रहता है, वैसे ही शब्द से आकृति और आकृति से स्वर व शब्द का उदय होता रहता है। सारांश यह है कि सम्पूर्ण विश्व इन्हीं दो से व्याप्त है। इसी अनुभव को प्राप्त हो एक औलिया अथवा महापुरुष मस्त हुआ कहता है—

"जैसे देखो वैसे हम, जिधर से देखो उधर से हम।"

आकृति का लक्ष्य।

आकृति शकल को कहते हैं समस्त वस्तु की शकलों को आकृति कहा है, खुलासा यह कि मनुष्य जिस पहचान व चिन्ह से जगत् की वस्तुओं को अच्छा बुरा, बिगड़ा बना, नाम, रूप, गुण, कर्म, स्वभाव, अवस्था को जानता व निश्चय करता है तिसकी संज्ञा आकृति है, उदाहरण :— आकाशस्थ नक्षत्रादि के चिन्ह व चालन के अनुसन्धान

से, गणित विद्या व ज्योतिष शास्त्र, तथा मनुष्य के शरीरस्थ चिन्ह, रेखादि के अनुसन्धान से सामुद्रिक शास्त्र बना है; आकृति के लक्षण से तजुर्बा करके पदार्थ विद्या, भूगर्भ विद्या, रसायन शास्त्र, वैद्यक शास्त्र, बनस्पति शास्त्र, पशु पक्षी परीक्षा, रतन परीक्षा आदि नाना प्रकार की उपयोगी और उपकारी विद्याओं की रचना हुई है। आकृति ही के लक्षण से वस्तु व प्राणियों की जाति, प्रकार, नाम, रूप, गुण, अवस्था, स्वभाव, रोगी, निरोग, व्यग्रता, प्रफुल्लतादि का बोध होता है; मनुष्यों की अवस्था लड़कपन, जवानी, बुढ़ापा, बली, निर्बली, रुग्णता, आरोग्यता, कुलीनता, अकुलीनता, सभ्यता, असभ्यता, सुखी, दुखी, संकेती, आसूदगी, सुन्दर, कुरूप, धनिकता, निर्धनता, प्रसन्नता, नाराजी आदि आकृति ही के लक्षण से सूचित होते हैं। तथा आकृति ही के पहिचान से अपना, पराया सिद्ध होता है। आकृति लक्षण से ही मनुष्य तथा अन्य प्राणियों के गुण दोष व स्वभाव में प्रतिकूलता, काम, क्रोध, मोह, भय आदि धर्म का उदय प्रतीत होता है। आकृति चिन्ह ही के लक्षण से क्रयी विक्रयी वस्तुओं का कीमती, बेकीमती, नई, पुरानी, बनी, बिगड़ी, सड़ी, घुनी, स्वच्छ, मलिन, सुडौल, कुडौल, उत्तम, मध्यम, सुन्दर, बदसूरत, आदि का बोध होता है। आकृति लक्षण से ही पृथ्वी और समुद्र के गर्भ से नाना प्रकार के पदार्थों की खोज की जाती है; आकृति ही के लक्षण से कालज्ञान, मौसिम,

फ़सल की दशा, भली बुरी वस्तु, अवस्था, गुण आदि सूचित होते हैं; आकृति ही के लक्षण से संयोगज्ञान, काल ज्ञान, जीव ज्ञान और ईश्वर ज्ञान होता है। तथा आकृति ही के लक्षण से आसमानी आगन्तुक घटना बिजली, आंधी, पानी, का बोध होता है। आकृति के अनुभव से ही ईश्वर की संज्ञा, साक्षी और प्रकाशमान कल्पना हुई है, और आकाश के अनुभव से ईश्वर को व्याप्य व्यापक कहा है।

आकाश निरूपण।

ईश्वर का बड़े से बड़ा रूप आकाश है। प्रमाण (खं ब्रह्म) आकाश में जिस प्रकार पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु क्रम २ समाया है; उसी प्रकार पृथ्वी के नीचे के शेष में भी आकाश ही के आधार में क्रम २ से वायु, अग्नि, जल व्याप्त हुआ है। इससे सिद्ध होता है कि सम्पूर्ण विश्व आकाश ही के आधार में स्थित है।

उदाहरण—जैसे कि सूर्य आदि ग्रह तथा नक्षत्र आदि वायु मंडल ही में स्थित है; उसी प्रकार एक अन्योन्याश्रयी आकर्षण शक्ति से विश्व स्थित हुआ है, और आकाश नित्य व अविनाशी सिद्ध है। प्रमाण—

अविनाशं तु यदविद्ध येन सर्व मिदं ततम्।
विनाशयति यस्यास्य न कश्चिद् कर्त्तु मर्हसि॥

अर्थात् जिस प्रकार रात्रि में सूर्य, दिन में चन्द्र व तारे, बुझ जाने में अग्नि, सूखने में जल, निस्पन्दता

में वायु, डूबने से पृथ्वी का लोप होता रहता है; ऐसे आकाश का कदापि लोप नहीं होता। नीलाई रूप आकाश की आकृति है,-शब्दगुणमाकाशम्- ये प्रमाण है; तथा साकार ही का प्रतिबिम्ब पड़ता है, जैसे सूर्य का बिम्ब जल में पड़ता है, तादृश ही आकाश का भी बिम्ब जल में प्रतीत होता है। जैसे पृथ्वी में आकर्षण शक्ति है तैसे ही आकाश में भी आकर्षण शक्ति हैं। उदाहरण-शब्द की धारणा प्राणी व मनुष्य के हृदयाकाश में व फोनोग्राफ़ में होती है।

आकाश ही संयोग क्रिया से आकृति रूप होता है। जैसे-घटाकाश, मठाकाश, और आकाशी घटना जैसे-गरजना, लपकना, व नाना रंग आंधी, पानी तथा नाना रूप के चित्र विचित्र शक्लें इत्यादि। इससे आकाश का साकार होना सिद्ध है। जो आकाश को शून्य (कुछ नहीं) कहते हैं वे भ्रान्त हैं। आकाश विश्व का उपादान कारण, नियमित कारण व साधारण कारण सिद्ध है-"यथा मकड़ी व मकड़ी का जाल" सम्पूर्ण वस्तु का उसूल आकाश ही में समाता है; व आकाश ही से उदय होता है; बिना आकाश के वस्तु का आधार प्रतीत नहीं होता है। यथा विद्या की धारणा हृदयाकाश ही में समाई रहती है; इसी तरह आकाश ही से विश्व होता है व फिर गति परिवर्तन से आकाश ही में लीन हो जाता है। आकाश सब दशाओं में ज्यों का त्यों बना रहता है। खुलासा यह है कि विश्व के सम्पूर्ण प्रकार व जाति की वस्तु में आकृति व आकाश व्याप्त

है, ऐसा कोई भी चिन्ह नहीं जिसमें आकाश न हो। और मुख्य सिद्धान्त यह है कि सृष्टि क्रम का मुख्य बीज ॐ ही है। ॐ ही प्रत्यक्ष ईश्वर है; जो स्फुरण अनुभव से साक्षात्कार होता है। ईश्वर शब्द रूप है, अर्थात् अवयव युक्त नहीं है; और न उसमें नाम रूप गुण, प्रकार, जाति, कर्म, स्वभाव व अवस्था का शब्द व्यापार है, यह कल्पना मानुषी प्रपंच है जिससे उस ईश्वर का बोध करने को निराकार संज्ञा पुकारा है; और वह गति रूप है, तिससे निर्गुण, निर्विकार भी कहलाया है।

उदाहरण-जैसे समुद्र के जन्तु उसी में पैदा होते, व पुष्ट होते हैं पर समुद्र का जल उससे विकारी नहीं होता। जो विकार रूप दर्शित होता है, वह संयोग क्रिया का रूप है।

मानुष प्रपञ्च।

मानुषी रचना को प्रपञ्च कहा है। प्रपञ्च उसको कहते हैं जो रचना अनियमित हो, अनिश्चित हो, जो सदैव परिवर्तन होता रहे। एक जिसको अच्छा सिद्ध करे दूसरा उसको बुरा सिद्ध करे इसको प्रपंच माना है।

समस्त पृथक् २ जाति के जो प्राणी हैं तिनमें नेचुरल स्वे स्वे जाति की जाति बोली व जाति रचना नियम रहती है अर्थात् स्वभावजः पेट ही से उत्पन्न होती है। जैसे मधुमक्खी का शहद बनाना, मकड़ी का जाल बिनना,

आदि और सभी में स्वे स्वे जाति की रुचि मत भी सामान ही रहती है, किसी को उनका कर्म सिखाना नहीं पड़ता, जन्मते ही वे सब अपने २ कर्म में प्रवृत्त हो पड़ते हैं, किन्तु मनुष्य में जाति रचना व जाति बोली दोनों नेचुरल नियमित नहीं है सांसर्गिक होती हैं। अर्थात् मनुष्य का बालक जिस योनि में जन्मता है तैसी मादरी भाषा व जैसे उसके मा बाप के रहन सहन हैं प्रायः वही चलन सीखता है। तिससे मनुष्य के व्यक्ति २ की रुचि व मत भी पृथक् २ रहती है, इससे मनुष्य में व्यक्ति २ की जुदी २ क्रिया होती है, जुदे २ व्यसन होते हैं, इससे मनुष्य के नाना प्रकार के मार्ग रहते हैं तथा सभी मनुष्य अपने २ स्वभाव, व्यवसाय, रचना व चलन को अच्छा ही मानते हैं अर्थात् १ अक़िल में अपने को आधे में समस्त विश्व को देखता है। मनुष्य जन्म से मरण पर्यन्त अन्य के स्वभाव व्यवसाय का अनुकरण ही करता रहता है अर्थात् सीखता ही रहता है। जो जिस २ संसर्ग में परिवर्तन होता रहता है तैसी २ रुचि व मत व्यसन व ख्याल सब वदलता रहता है, इस करके मानुषी रचना भी कोई नियम रूप में नहीं रहती। जुदे २ देश की, जुदे २ शहर की, जुदे २ क़सबा की बोली, बर्ताव, मकान का बनाव, बर्तन का बनाव, गहना, कपड़ा, औजार आदि के बनाव सब भिन्न २ रूप के रहते हैं। जो मकान पहले का बना गिर पड़ता है तो उसके स्थान में वही मकान दूसरे रूप का ही बनाया जाता है। मानुषी व्यवहार

में १४७ प्रकार की भाषा की वर्णमाला केवल हिन्दुस्तान में है। एक अंगरेज़ ने सिद्ध किया है और हज़ारों भांति के धर्म अर्थात् पृथक् २ रुचि के पृथक् २ रूप में धर्म कल्पना हुए हैं।

यह रचना मानुषी है।

मिट्टी, पत्थल से मकान, खिलौना, बर्तन आदि व रंग मूल के जड़, छाल, पत्ता, फुनगी, फूल, फल आदि से नाना भांति के रंग, औषधि, कपड़ा, रस्सा आदि व काष्ठ से नाना प्रकार के काष्ठ के सामान तथा धातु सोना चांदी आदि से नाना प्रकार के आभूषण व गहना तथा अन्य धातु से वर्तन, शस्त्र, औजार आदि व रंग प्राणी के शरीर के चमड़ा, रोम, बाल, नख, दन्त, हाड़, सींग आदि से नाना प्रकार की जिन्स व कपड़ा ये सब जिन्स मानुषी रचना की पृथक् २ देश की पृथक् २ रूप की होती व रहती हैं। देखा सीखी नित्यप्रति नए २ आविष्कार होते हैं, अर्थात् पहले की रचना निकम्मी मानी जाती है और पृथक् २ भाषा में विश्व के शकलों की पहिचान की संज्ञा, उसके गुण के विवेचन की संज्ञा; उसके अवस्था के भेद की संज्ञा जो कल्पना की गई है ये सब शब्द व्यापार मानुषी रचना हैं।

मनुष्य के स्वभाव में वासना अर्थात् आधि रोग फिक्र चिन्ता अनुकरण के उसूल से हो गया है अर्थात् वासना व द्वैतता की दृढ़ भावना की जड़ केवल शब्द

व्यापार है। तिस आधि रोग के नाश के लिए मनुष्य में "धर्म" व प्रबन्ध प्रबन्धित हुआ है। तिस धर्म में भी प्रपञ्च रचना हुई है सो समझिए-जिस कर्म करके शरीर रक्षा हो वही कर्म धर्म सब ने कहा है। अर्थात् प्राणी मात्र का मुख्य धर्म शरीर रक्षा है, इसी के लिए सब कर्म किए जाते हैं यह सभी को स्वीकार होगा। जिस कर्म करके मरण पश्चात् कुटुम्बी व पुत्र कलत्र का आदर सत्कार होता है वही कर्म परमार्थिक है। जिस कर्म करके मरण पश्चात् कुटुम्बी, पुत्र, कलत्रादि को दुःख अपमान हो वही नर्क है। इस उपाय से सब ने ईश्वर स्थित किया। जो जिसकी भाषा थी, जो जिसकी रुचि थी वैसा ईश्वर की वाणी व वैसा ही ईश्वर की रुचि सबों ने स्थित किया।

हिन्दुओं के यहां संस्कृत बोली वाला ईश्वर स्थित हुआ तथा ईश्वर की यज्ञ करने की आज्ञा हुई व यज्ञ में पशु मारना धर्म हुआ। वाम मार्गियों के यहां ईश्वर को रुचि मांस मदिरा व व्यभिचार में हुई वही कर्म धर्म है। आर्य्यसमाजियों के यहां निराकार ईश्वर की रुचि वर्ण शंकर बढ़ाने की है। धूर्त्त लोगों ने ईश्वर का पण्डा बन कर धन लेना ही धर्म प्रचार समझा। अन्त्यजों के यहां भूत प्रेत ही ईश्वर रूप हुआ व सूअर मुर्गी काटना हो धर्म हो गया।

मुसल्मानों का ईश्वर अर्बी भाषा का बोलने वाला हुआ तथा गौ का मांस उसको अत्यन्त प्रिय था। अंगरेजों

का ईश्वर अंगरेजी भाषा का बोलने वाला था तथा उसकी भी मांस खाने की रुचि थी इत्यादि पृथक् २ बोली वाला व पृथक् २ रुचि वाला सब ने ईश्वर स्थित किया। तिससे सिद्ध हुआ कि स्वार्थ-तत्परता सब धर्मों में स्थित है इत्यादि। यह तो प्रपञ्च है किन्तु सब का सामान साध्य यह है कि मोहब्बत, प्यार व प्रीति, स्नेह, कुटुम्ब से, जाति समुदाय से करना कर्तव्य है। अपने उपयोगी वस्तुओं की रक्षा (हिफ़ाजत) करना कर्तव्य है। किसी को दुःख न देना कर्तव्य है। अच्छे २ कर्म करना जिससे रिफःआम को सुख प्राप्त हो कर्तव्य है। इन अंगों में सब के एक तुल्य उपदेश हैं। सत्य बोलना, सन्तोष रखना, तृष्णा रोकना, आचार विचार युक्त काम करना ये सब के तुल्य साधन हैं। जेष्ठ, श्रेष्ठ, माता, पिता, गुरू, राजा की बन्दगी बजाना यह सब की नीति तुल्य है। इसी कर्तव्य का नाम मूर्तिपूजन है। इस शब्द को हिन्दुओं ने कल्पना किया है किन्तु मूर्तिपूजक सब हैं, शब्द व शैली भेद है। सारांश यह है कि प्राणी मात्र का नेचुरल धर्म मूर्तिपूजन है, इसके साध्य में ही नाना रूप की क्रिया साधना सब कर्म हैं वे ही कर्म धर्म माने गए हैं।

इति श्री हरिदास विरचितम् धर्म निर्णय ग्रंथे
सृष्टिक्रम, तत्वज्ञान, मानुष प्रपञ्च वर्णनो नाम
तृतीयो मयूखः।

मूकं करोति वाचालं पंगुं लङ्घयते गिरिम् ।
यत् कृपा त्वामहं बन्दे परमानन्दमाधवम् ॥

गुरूपदेश ।

(UNIVERSAL RELIGION)

इस शब्द का भाव यह है कि धर्म के सार तत्व को बतलाना, जो मुझे गुरू ने उपदेश किया है वह आप को भेंट करता हूं। हे शिष्य तीन मयूख के विषय को धर्म निर्णय व धर्म निरूपण तथा सृष्टि क्रम व तत्वज्ञान व मानुषी प्रपञ्च से सब समझाया, कि मनुष्य मात्र का मुख्य धर्म मूर्तिपूजन है और यही मुख्य अद्वैत सिद्धान्त की उपासना है और सब प्रपञ्च है। तब भी तेरी अद्यावधि द्वैत भ्रान्ति निर्मूल नहीं होती। इसका कारण केवल जन्म से मानने का जो अभ्यास दृढ़ हुआ है वही वासना है। वह वासना शब्द व्यापार करके दृढ़ होती है। इस शब्द व्यापार ने बड़े २ पारंगत विद्वानों को संशय में डाल दिया है जिससे वे उबर नहीं पाते। जिनने विचार में दृढ़ धारण किया है वही श्रेष्ठ मनुष्य है। सभी ने विचार ही को तप कहा है, विचार का अभ्यास ही पुरुषार्थ प्रयत्न है। यथा—

"ऋतम् ज्ञानेन मुक्तिः"

"बे इल्म नतवा खुदाराशनास्त"

प्रायः सभी देश में पारंगत विद्वान भी हैं किन्तु वे तत्वज्ञानी नहीं कहे जा सकते। तत्वज्ञान उस॰ को

प्राप्त हुआ जानो जिसकी वासना नष्ट हो गई है, जिसकी आधि रोग से मुक्त हो चुकी है, जिसके संकल्प विकल्प भस्म हो गये हैं, जिसको "गति" की विचित्रता देख पड़ने लगी है अर्थात् द्वैतता की दृष्टि नष्ट हो गई है, जिन्हों-ने सन्तोष का दृढ़ साधन कर लिया है और जो सत्या-वलम्बी हो गये हैं, वास्तव में वही ईमानदार हैं, सत्य-वादी हैं, व तत्वज्ञानी हैं।

प्रायः सभी देश के विद्वान, बली, धनी, गुणी अपनी २ अपेक्षा दूसरे को न्यूनाधिक देखा करते हैं। बराबर वाले के बढ़ने से संताप तथा घटने से अहंकार उत्पन्न होता है। एक फिकर का बोझा सिर से उतरने नहीं पाता दूसरा उससे अधिक बोझा सन्मुख मौजूद रहता है, तिनके क्षोभ से नितान्त दुःखी रहते हैं। इसी को वासना इसी को आधि रोग कहा है। इसी पर एक साधु कहता है—

"कोई सफ़ा न देखा दिल का"

धन, कुटुम्ब आदि से जो भाग्यवान कहे जाते हैं वह भ्रान्त है। कारण सब की स्थिति समान है, सुखी को भाग्यवान कहा है। जब सुख नहीं तब वह काहे का भाग्य-वान। इसको अच्छी तरह समझिए। इसका विषय दूसरे मयूख में द्वैतता खण्डन के प्रसंग में दे आए हैं। वासना ही से मनुष्य मनुष्य को मार डालता है और स्वयम् भी आत्महत्या कर लेता है। विद्वान भी द्वैतता के अभ्यास से नाम नामी, गुण गुणी, देह देही, धर्म धर्मी को

पृथक् २ देखते हैं यथा आकाश व शब्द, वायु व स्पर्श, सूर्य-धूप, अग्नि-गर्मी, ईश्वर-जगत्, किन्तु ये वस्तु एक हैं अर्थात् वाच्य भेद हैं, वस्तु के गुण की भी गणना करते हैं तिससे द्वैत भ्रान्ति नष्ट नहीं होती। यह सिद्ध कर चुके हैं कि शकल जो देख पड़ती है, खाई जाती है, पान की जाती है, सूंघी जाती है, स्पर्श होती है इन सब शकलों को जीव माना है। गति जो प्रति क्षण समस्त विश्व के शकलों को परिवर्तन करती है उसको शक्ति कह के, ईश्वर कह के, रूह कह के, जान कह के, प्राण कह के बोध कराया है एवम् वह गति शक्ति रूप से विश्व में स्थित है पर उसका कोई रूप नहीं है। और वह विश्व में है विश्व से भिन्न नहीं है। समस्त विश्व आकृति व शब्द मय ही है तीसरी वस्तु तो कुछ है ही नहीं। किन्तु मनुष्य ने उन दो शकलों में गति के परिवर्तन के नाना भांति के शब्द का जाल रचा है। जैसे मर्दुमशुमारी के मुहकमे की मिसलें मुरत्तिब होती हैं, जैसे मिट्टी के खिलौने की तथा सोना चांदी के गहने की नाना संज्ञा कल्पना की जाती हैं, जैसे लोहे के औज़ारों के जुदे २ नाम कल्पे जाते हैं तैसे ही मनुष्य प्रपञ्च में मनुष्य शकल को ही राजा स्थित किया, प्रजा स्थित किया, मोहकमा स्थित किया, क़ायदा स्थित किया, बुरे २ कर्म को स्थित किया, अच्छे २ कर्म को स्थित किया। उपदेश, नीति, क्रिया, साधन स्थित किया, धर्म सम्बन्ध में, व्यवहार सम्बन्ध में, प्रबन्ध सम्बन्ध में समस्त संज्ञा कल्पना किया। काहे के वास्ते, केवल शरीर रक्षा ही के

निमित्त, दूसरे के निमित्त नहीं। किन्तु वह सुख तो तत्वविचार ही से प्राप्त होता है द्वैतता दृष्टि से कदापि होता नहीं। द्वैतता जो उत्पत्ति नाश, कर्ता भोक्ता, अच्छा बुरा आदि कर के सभी अद्वैतता में शंकित हो जाते हैं, तिसमें अच्छे बुरे का समाधान तो दूसरे मयूख द्वैतता के खण्डन में कह आए हैं। उत्पत्ति नाश का विषय जगत नश्वर बाद पन्ना १५ में है। कर्ता भोक्ता के शब्द को समझिए। जो मनुष्य अपने को कर्ता भोक्ता मानता है इस पर यह प्रश्न है। शरीर के भीतर जो अन्न, पानी, हवा को अपने २ स्थान में नियत करता है तथा रस, लोहू, मांस, बीर्य्य, मद, मज्जा, हड्डी, चमड़ा, रोवां आदि रूप में उसका परिवर्तन करता है, मलमूत्र अलग करता है, सब नाड़ियों में लोहू पहुंचाता है तथा मिथ्याहार व्यवहार से नाना प्रकार के रोग उत्पन्न करता है, तथा गति प्रति क्षण परिवर्तन करता है क्या वहां भी तुम्हीं सब करते हो ? और जो तुम अपने को कर्त्ता भोक्ता मानते हो, सो भी भ्रम है। क्योंकि सभी मनुष्य सुखी व निरोग होना चाहते हैं। दुखी व रोगी नहीं होना चाहते हैं। तो क्यों अपनी इच्छा के प्रतिकूल दुखी और रोगी हो जाते हैं ? नाना भाषाओं में जो २ धर्म पुस्तकें हैं उनमें अपने २ समझ के अनुकूल सब ने धर्मोपदेश दिया है। शैली भेद है, अर्थात् वाक्य भेद है, लक्ष्य भेद में किसी भांति द्वैतता सिद्ध नहीं होती।

एवम् प्रयोजन सभी आचार्य्यों के उपदेश का यही है कि किसी उपाय से मनुष्य को सुख मिलै—यथा बालक को सिखाया जाता है तो कई प्रकार के शब्द व शैली से सिखाया जाता है, पर वे शब्द शैली वाक्य भेद हैं, लक्ष्य भेद नहीं हैं। सभी का साध्य सुख प्राप्त ही है। किन्तु वह सुख तो केवल वासना अर्थात् द्वैतता के त्याग से ही प्राप्त होता है। अद्वैत उपासना का धर्म मुख्य मूर्ति पूजन सिद्ध है। अद्वैत शब्द का भाव यह है कि समस्त विश्व की शकलें एक ही वस्तु से पैदा हुई हैं अर्थात् सब में एक ही जान है, सभी वस्तु में एक स्थित एक गति है, जिससे सब वस्तु की रक्षा सब का हित देखना मनुष्य का परम कर्तव्य है इसी को सनातन धर्म कहते हैं। और सभी धर्म में आचार विचार की सीमा वर्ण भेद के अनुसार दृढ़ हुई कि जिस में देश का काम रुकै नहीं। जैसे डाक्टरी में एक ही हथियार से गला व पैर आदि चीरे फाड़े जाते हैं, उन हथियारों में उत्तम मध्यम कौन माना जाता है। वैसे ही पेशे २ पर वर्ण भेद नियत है, किन्तु कौन वर्ण उत्तम है, कौन वर्ण नीच है इसके भेद को भी सभी आचार्य्यों ने तोड़ा है वर्ण के भेद पर धर्म मनुष्य का जुदा २ नहीं सिद्ध होता। जो जैसा उत्तम मध्यम निकृष्ट कर्म करता है, तैसे २ उसकी उत्तम मध्यम निकृष्ट श्रेणी में गणना होती चली जाती है। "क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा" जैसे ब्राह्मण, क्षत्री आदि नीच वृत्ति को ग्रहण कर लेते हैं तो उनके साथ सभी

जाति के लोग नीच का सा वर्ताव करते हैं। जाति की उच्चता व नीचता से कोई उच्च व नीच नहीं माने जाते। यह लोक संमत भी सभी देश की छोटी बड़ी जातियों में प्रचलित है, अर्थात् अच्छे खानदानी अंगरेज़ व मुसलमान भी जब अपने सजातीय को नीच वृत्ति देखते हैं तो उसके साथ खाना, पीना, उठना, बैठना इत्यादि सम्पर्क नहीं करते। तथापि अपनी २ जाति का सभी पक्षपात करते हैं। यह भी लोक संमत है कि चमार भी अगर सत्य बोलता है तो गांव में उच्च श्रेणी वाले भी पंचायत के झगड़ों में उसको बुलाते हैं, किन्तु ब्राह्मण जो नीच वृत्ति का हो जाता है उसको कोई भी नहीं पूंछता। अपनी २ जाति व पेशे को कोई बुरा नहीं समझता या मानता, किन्तु स्वार्थ तत्पर उपदेशकों ने इस तत्व को छिपा दिया है। क्योंकि उनमें खुद स्वार्थ तत्परता घुसी है-इस तत्व के समझाने से तो उनकी जीविका जाती है इसलिए नये २ शैली में अपने २ मतों की बड़ाई करने में प्रवृत्त हैं।

धर्म की मीमांसा।

धर्म कर्म दोनों वाच्य भेद हैं। धर्म कर्म का निरूपण सविस्तार दूसरे मयूख में हुआ है। मनुष्य में धर्म प्रेम व स्नेह बढ़ाने के उपाय में दृढ़ हुआ है अन्य प्रयोजन नहीं था। प्रेम व स्नेह बढ़ाने से ही मनुष्य को सुख मिलता है। तिस

धर्म में प्रवृत्ति के लिए तीन साधनाएं सभी मतावलम्बियों ने दृढ़ता के साथ स्थित की है, सन्तोष रखना, तृष्णा का रोकना, सत्य बोलना, तथा दो उपाय "आचार विचार" इन पांच अंगों के सहित धर्म सभी देशों की छोटी बड़ी जातियों में अनादि काल से सामान्य प्रवाहित है। बिना इन पांचों अंगों के धारण किए मनुष्य को कदापि सुख नहीं मिल सकता। यह सार्वभौम सिद्धान्त है। सारांश यह है कि इन्हीं पांच अंगों के अवलम्ब से मनुष्य को सुख प्राप्त हो सकता है। जो मनुष्य इन अंगों को नहीं धारण करता है उनकी पाखंडी, पूजा, पाठ, जप, तप. दान, व्रत, नियम, ध्यान, तिलक, मुद्रा, गायत्री, वेद मंत्र, नमाज़, बायबिल आदि के आचरणों से कदापि सुख प्राप्त नहीं होता। जब तक मनुष्य की आधि अर्थात् फिक्र नहीं छूटती तब तक वह अपवित्र ही सिद्ध व सत्य है और उसको मरण काल में वासनाओं के अनन्त क्षोभ घेरते हैं जिसको विद्वान सभी समझते हैं। दुष्ट मनुष्य से सभी दुःख पाते हैं। ऐसे ही मिथ्याहार विहार से सब को रोग होता है। इससे सिद्ध है कि संसर्ग से ही सुख दुख होता है। "सुखस्य दुःखस्य न कोपिदाता" दुःसंग और मिथ्याहार विहार का निवारण करने के लिए तथा सत्संसर्ग में प्रवृत्ति करने के लिए ही सब धर्मों में आचार विचार धर्म का मुख्य अंग माना गया है। और वे ही सब देशों की छोटी बड़ी जातियों में जाति मर्य्यादा धर्म के शब्द से कहा जाता है। अर्थात् सभी

धर्म में प्रधान अंग आचार विचार स्थित है और सब देश की छोटी बड़ी जातियों में प्रचलित है। जिस मनुष्य का जो पेशा था अथवा भक्ष अभक्ष्य था तदनुकूल उच्च नीच कर्मों के भेद से जुदो २ जातियां कल्पना हुई हैं यथा—

"चातुर्वर्ण मया सृष्टं गुण कर्म विभागशः।"

और सभी जातियों ने अपने २ पेशे को ही धर्म समझ रक्खा है, क्योंकि सभी में एक मात्र आधार मूर्तिपूजन है। आचार विचार की मर्य्यादा के रक्षा के लिए बदनामी का भय व जाति दण्ड सभी में नियत है—

"स्वे स्वे कर्मण्य भिरतः संसिद्धि लभते नरः।"
"स्वधर्मे निधनं श्रेयः पर धर्मो भयावहः।"

जातीय मर्य्यादा इस कारण सीमाबद्ध हुई है कि कोई पेशा शिथिल न हो। कोई भी पेशे वाले न होने से देश का कार्य अनुकूल प्रवाह में नहीं चलता यह सार्वभौम सिद्धान्त है। सभी देश के छोटे बड़े जाति में आचार विचारहीन को तुच्छ कहते हैं, असभ्य कहते हैं। तिससे सब में आचार विचार की सीमा दृढ़ है, सिद्ध है।

अब आप लोगों को सनातन धर्म के मन्दिर का दर्शन कराता हूं तिसमें वही मूर्तिमान स्थित हुआ है। विचार दृष्टि से देखिये विद्वान लोग मूर्तिपूजन का अर्थ वागजाल के सबब समझते नहीं इसी से झटित ही कह

बैठते हैं कि हम मूर्तिपूजक नहीं हैं, किन्तु वे अवश्य हैं, तिसको विचारिए। मूर्तिपूजन के शब्द का मुख्य आशय प्रेम व स्नेह है, अन्य नहीं है। सभी प्रेम व स्नेह को ही अच्छा कर्म मानते हैं। कारण सब अपने बालकों को प्रेम स्नेह में प्रवृत्त होने की शिक्षा दिया करते हैं। सभी देश व भाषा के आचार्य्यों ने अच्छे कर्म को ही धर्म स्वीकार किया है। येही अच्छे कर्म सब देश के छोटी बड़ी जाति में समान समझे गए हैं, जो निम्न लिखित शकलों में अनादि से प्रचलित है। सभी आचार विचारवान की प्रशंसा करते हैं, आचार विचार इस शब्द का भाव केवल खाने पीने की छूत ही नहीं सार वस्तु संग कुसंग का बचाना तथा सोच समझ के काम करना, जिसमें किसी को फिर पछताना नहीं पड़ता। सभी असभ्य, दुष्ट, निर्दय व बदचलन के संग को बुरा पुकारते हैं, सभी अपनी २ शक्ति व वित्तानुसार अपने २ कुटुम्ब पालते हैं, सभी ख़ुशी व रंजीदगी के समय बिरादरी को खिलाया करते हैं, सभी अपने से ज्येष्ठ श्रेष्ठ मा बाप व राजा गुरू को शिर झुकाते हैं; सभी अपने हितू नातेदार जान पहचान की तवाज़ः ख़ातरी करते हैं, सभी आपस में प्रेम स्नेह रखते हैं, सभी दुःखी रोगी ग़रीब पर तरस करते हैं व मदद देते हैं। अपने २ गोल की जीविका के लिए सभी सिफारश करते हैं, जमानत देते हैं, सभी अपने साथी का पक्ष लेते हैं, सभी अकालपीड़ित के सहायवान होते हैं और सहानुभूति प्रगट करते हैं, सभी ख़ुदगर्ज़ की निन्दा

करते हैं, सभी देश भक्ति को प्रशंसनीय समझते हैं, सभी अपने खाने पहरने व उपयोगी चीज़ों की यत्न पूर्वक रक्षा करते हैं। जो बेपरवाह होता है सभी उसको नालायक कहते हैं, सभी दूसरे को दुःख देना गुनाह मानते हैं, सभी दया, सत्य, परोपकार, सन्तोष रखना, तृष्णा रोकने को धर्म का मुख्य अंग मानते हैं, सभी ईश्वर को किसी न किसी शकल से भजते हैं, रिफ़ःआम को सभी सबाब मानते हैं। असत्य बोलने वाले को दूसरे को दुःख देने वाले व पाखण्डी को सभी पापी मानते हैं, रुपया बढ़ने से बहुतेरे विद्या प्रचार में तथा धर्मशाला, मन्दिर, मसजिद, गिर्जा, कुवां, तालाब, सड़कों पर पेड़ लगाना, बाग़ीचा लगाना, सड़क बनाना, अस्पताल खोलना इन कामों में रुपया ख़र्च करते हैं, ग़रीब व मोहताज की अन्न वस्त्र से सभी मदद करते हैं, सभी अड़ोस पड़ोस और मुहल्ले वाले आग लगने पर या मकान गिरने पर खाना पीना सोना छोड़ के स्नेह पूर्वक दौड़ के मदद को उत्साहित होते हैं और अपने परिश्रम को न देख कर उसकी रक्षा करते हैं, मृत्यु होने पर सभी जान पहिचान के लोग आ कर सहानुभूत प्रगट करते हैं यह तो समस्त मनुष्य में व्यवहार है अब शास्त्र प्रमाण लीजिये :-

नाहं वेदै र्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवं विधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥
भक्त्यात्वनन्यया शक्य अहमेवं विधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्वे च प्रवेष्टुं च परं तप ॥

सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ॥

अर्थात् जो मनुष्य जिसके जैसे आपत्ति में काम पड़ता है वैसे ही उसके विपत्ति में भी उसको मदद मिलती है ।

कोई पण्डित मनुष्य, मनुष्य शकल को छोटा बड़ा गिनते नहीं कर्म व चलन को ही छोटा बड़ा गिनते हैं। इसके परे दूसरा धर्म क्या है सो सिद्ध होता नहीं। सभी देश के आचार्यों ने विद्या उपार्जन करके, अनुभव प्राप्त करके, धर्म पुस्तकें व नाना उपयोगी विद्यायें रची हैं कि जिससे संसार का हित हो, यही सनातनधर्म मूर्तिमान हुआ। मनुष्य जाति मात्र में सामान नियम से स्थित है और वह मर्य्यादा जाति बदनामी के रूप में प्रत्यक्ष हुई है, क्योंकि निन्दनीय कर्म के बदनामी से सभी डरते रहते हैं। सारांश यह है कि जिसमें सुख प्राप्त हो वही कर्म धर्म कहलाता है। धर्म कर्म वाच्य भेद है लक्ष्य भेद नहीं है। हे विद्वानो ! सब के धर्मपुस्तकों का यही सार है, उनके अन्य २ वाक्यों पर दृष्टि न डालिये यथा–

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥ "गीता"

उपनिषद् कहता है–

"वाचारम्भणम् विकारो नाम धेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्"

एक मुसल्मान पारंगत विद्वान मुल्ला कहता है-

मनूज़े कुरआं मगज़् रा वर्दाश्तम् ।

उस्तुख्वां पेशे सगां अन्दाख्तम् ॥

हे विद्वानो ! सनातनधर्म के उत्कृष्ट शक्ति को समझिए कि मूर्तिपूजा सभी जाति के प्राणियों में अनादि से धारा प्रवाहवत् चालन है अर्थात् नेचुरल है यह धर्म आधुनिक व काल्पिनिक प्रबन्धित नहीं हुआ है। पर द्वैतता के अभ्यास से अच्छे २ विद्वानों को अद्यावधि धर्म नहीं चीन्ह पड़ा, क्या है ? हे विद्वानो ! मनुष्य में तो सभी देशों से सभी देशों की तारतम्य डोर तनी है, ऐसा दृढ़ सम्बन्ध होने पर मनुष्य मनुष्य को छोटा बड़ा, ऊंच नीच भेद, अवस्था भेद, देखता है यह द्वैतता है । बड़ा आश्चर्य्य है कि धर्म क्या वस्तु है नहीं देख पड़ता, वर्ण भेद तथा जाति भेद से धर्म दो चार नहीं होता ।

आचार्य्यों ने मूर्तिपूजन की कैसी उदार कल्पना की है तिसको विचारिए। सब से अमूल्य पदार्थ ईश्वर भक्ति को सभी ने स्वीकार किया है, उस भक्ति का रूप क्या है, तथा उपासना क्या है, वह यह है कि विश्व की समस्त शकलें जिनको वस्तु जीव के शब्द से कहा है उनकी जो यथेष्ट रक्षा करता है वही धर्मात्मा है व देश भक्त है। तथा सभी अपने उपयोगी वस्तु की हिफ़ाजत व रक्षा करते हैं वही उसका पूजन है, वही उसका भजन है, वही उसका कर्म है। अर्थात् अपने शरीर रक्षा ही के निमित्त समस्त व्यापार है । जो मनुष्य उपयोग व भोग

के सामान को जैसी उचित रक्षा करता है तैसा उसके काम पड़ता है। जैसा उनमें बे परवाही करता है तैसा ही उसके हित का साधन भ्रष्ट हो जाता है। तथा राजा के राज्य धन की जो जैसा रक्षा करता है वैसा ही वह राजा का प्यारा होता है। जैसे जो राज्य धन को ज़ाया करता है वही गुनहगार होता है। वैसा ही यह सृष्टि ईश्वरीय धन है। जो इस धन को संरक्षित रखता है वही ईश्वर का सच्चा भक्त है, वही मूर्तिपूजन है। जो इस धन को ज़ाया करता है वही पापी है। देखो मूर्तिपूजक मनुष्य ही नहीं वरन प्राणी मात्र है, जिनका समान धर्म पर लक्ष लीजिये।

प्राणी मात्र का साधारण धर्म।

समस्त प्रकार के प्राणी में तथा मनुष्य में ३० भांति की स्वभाव जन्य प्रकृति नेचुरल होती है। यही मनुष्य व प्राणी मात्र में समान धर्म है। अर्थात इन्हीं तीस प्रकार की क्रिया ही में सब जन्मते, पलते व रूपान्तर होते रहते हैं। तीस क्रिया निम्न लिखित हैं। चार भांति के शब्द ब्यापार हैं:-रोना, चिल्लाना, गाना, हंसना जो पृथक २ जाति की बोली में पृथक् २ रूप को रहती हैं। सब प्रकार के प्राणी इन्हीं शब्द ब्यापारों से अपना आन्तरिक भाव अन्य को बोध कराते हैं। व अन्य का आप बोध करते हैं। इसके परे मनुष्य के बोल चाल का जो शब्द ब्यापार वह प्रपंच है, व अनिश्चित है क्योंकि

संसर्ग जनित है अर्थात् सिखाने पढ़ाने से उत्पन्न होते हैं। सभी में १० भांति में दृष्टि ज्ञान रहता है। संयोग, वियोग, बली, निर्बल, हित, अहित, भक्ष्य, भक्षक, अन्धयारा, उज्यारा। इनहीं दस प्रकार की दृष्टि ज्ञान में मनुष्य ने अनंत दृष्टि मानित किया है यथा ईश्वर जीव, सतो गुण रजो गुण, तमो गुण, पुरुष, प्रकृति, सत्य असत्य, पुण्य पाप, जड़ चैतन्य, मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त, नाम, रूप, गुण, कर्म, स्वभाव, अवस्था, अच्छा, बुरा, मेरा, तेरा, आदि ये सब प्रपंच हैं। अन्य कोई प्राणी जाति इन शब्दों के भेद को समझते मानते नहीं इसी से मनुष्य में द्वैतता व वासना उत्पत्ति हुई है। १० प्रकार की दृष्टिज्ञान को ज्ञान इन्द्रियजन्य बोध कहते हैं। इसी दश विधि ज्ञान से समस्त प्राणी अपनी २ शरीर रक्षा करते हैं। सभी में चार प्रकार के संसर्ग जन्य विकार उत्पन्न हुवा करता हैं। यथा क्रोध, प्रेम, भय, रोग, छः प्रकार के शरीर धर्म खाना, पीना, मल मूत्र का त्याग, मैथुन और निद्रा, अथवा आलस्य—छः जीव लक्षण-इच्छा, द्वेष, सुःख, दुःख, यत्न, ज्ञान, इन ३० भांति की प्राकृतिक क्रिया से ही प्राणी मात्र की उत्पत्ती, पालन, नाश, होता रहता है। यह सब के समान धर्म नियमित हैं। इनके परे जो अन्य दृष्टि व अन्य शब्द व्यापार हैं वे प्रपंच हैं। वैसा ही प्रत्यक्ष में मनुष्य व प्राणी जाति के समान व्यापार भी प्रतीत होते हैं उसको समझिए- जैसे मनुष्य कपटाचारी व व्यभिचारी होते हैं तैसें अन्य पशु व पक्षी भी हैं। जैसे कोई मनुष्य मांस नहीं खाते

वैसे प्रायः बहुत जाति के पशु पक्षी मांस भक्षी नहीं हैं। जैसे कोई मनुष्य एक नारी ब्रती रहते हैं तैसे चकई, चकवा, सारस, सर्प, सिंह हैं। जैसे मनुष्य दांवघाती होते हैं तैसे ही पशु पक्षी भी दांव घाती होते हैं व शत्रु से बदला लेते हैं। जैसे मनुष्यों में विरादरी का संम्बन्ध है वैसे पशु पक्षी भी गोल बन्द रहते हैं। जैसे स्त्री अपने पुत्रों को पालती है वैसे वे भी अपने २ पुत्रों को पालते हैं और रक्षा करते हैं। जैसे मनुष्य संचय करता है तैसे कई प्राणी भी संचय करते हैं। जैसे मधु मक्खी, चींटी, घूस, मूंस, बन्दर आदि। मनुष्यों में प्रबन्ध रहता है वैसे ही कई जातियों में जातित्व प्रबन्ध रहता है। उसके प्रतिकूल चलने वाले का वे सिर काट लेते हैं, जैसे जो मधुमक्खी किसी मलिन पदार्थ का रस लेती है उसको मार डालते हैं। जैसे मनुष्य मकान बना कर रहते हैं तैसे प्रायः चिड़िया, व पशु मकान व बिल बनाती हैं। जैसे चन्दू-चेहरा अर्थात् बया व बिलवाले जानवर। जैसे केचित् मनुष्य आश्चर्य्यवान आविष्कार करते हैं। जैसे रेडियम आदि व (एर शिप) Air Ship आदि तथा नाना भांति के वि-चित्र शस्त्र आदि रेल तार आदि तैसा ही केचित् जाति कीड़े विचित्र कार्य करती हैं। जैसे मधु मक्खी सहत बनाती है तथा भृंगी अन्य अन्य रूप के कीड़ा से स्वान रूप सन्तान बनाती हैं, तथा कई जाति के मकोड़े व पक्षी आसमानी घटना पानी आंधी इत्यादि बोध कर लेती हैं और वे अपने रक्षा का प्रबंध कर लेती हैं। ये शक्तियां मनुष्य

में कदापि नहीं हैं। जिस प्रकार अपने २ गोल व बिरादरी में कोई २ मनुष्य गुणवान्, रूपवान, शक्तिमान् होते हैं तैसे उनमें भी सभी जाति में कोई २ उत्तमोत्तम रूप गुण में प्रशंसनीय निकलते हैं। तैसे कोई २ मनुष्य तन मन धन से देश भक्त निकलता है। तैसे प्रायः बहुत जाति के पशु पक्षी चरना, खाना, छोड़ कर संकट में पड़े अपने सजातियों की रक्षा करने में तत्पर होते हैं। जैसे गाय, बैल, अपने साथियों को शेर से छुड़ा लेते हैं, "कोढ़े में" गायें रहती हैं और जब उनमें से किसी के बच्चा पैदा होने वाला होता है तब वे लोग उसके लिए जगह कर देती हैं और ऐसा बचाती हैं कि बच्चा कचरने नहीं पाता। जिस प्रकार मनुष्य सहवास संसर्ग से अन्य भाषा सीख लेता है व बोलता है, तथा क्रिया सीख लेता है व करता है, तैसा ही प्रायः बहुत जाति के पशु पक्षी भी करते हैं। सिखाने पर नूतन क्रिया व शब्द व्यापार भी सीख लेते हैं। जैसे सरकश के शेर, हाथी, घोड़ा व अन्य छोटे २ पशु पक्षी नाना कौतूहल करते हैं। तथा मदारी भालू सांप आदि का कुतूहल दिखाता है। कुत्ता बाज़ार से सौदा ले आता है। बन्दर मनुष्यवत् कर्म करते हैं। कबूतर डाक ढोता है। सुना है कि विलायत में कुत्तों को डिटेक्टिव पुलीस का काम सिखाया जाता है। मैना तोता मनुष्य के समान बोलते हैं, बात चीत करते हैं। तथा जिस प्रकार सिखाई भई क्रिया तथा शब्द भाषा बिना अभ्यास के पशु पक्षियों को विस्मरण हो जाता

है। तैसा ही मनुष्य की भी सिखी हुई क्रिया व पढ़ी हुई विद्या बिना अभ्यास के विस्मरण हो जाती हैं। सारांश यह है कि प्राणी मात्र का तथा मनुष्य का धर्म और व्यवसाय तुल्य है। तथा एक आकार का वृक्ष मिला है, जो जानवरों को डाली से जकड़ लेता है और खून चूस कर छोड़ देता है। यह कुदरती शक्ति का प्रभाव है कि किस २ रूप के आकार से कौन २ कार्य्य इस जगत् का होता है। चौरासी लाख शकलों से ही जगत् के सारे काम स्वयम् होते हैं। और गति शक्ति जैसी की तैसी नित्य स्थित है। इसी से सृष्टि नित्य व सत्य निर्विवाद सिद्ध है। मनुष्य में अन्य प्राणियों से विशेषता यह है, मनुष्य में नेचुरल स्वभाव है कि वह अन्य के स्वभाव व व्यवसाय का अनुकरणी होता है, उनमें जो मनन करने वाले मनुष्य होते हैं उनके मनन शक्ति से एक अद्भुत सूझ उत्पन्न होती है। तिससे वह असली हालत से बेहद अतीव तरक्की कर सकता है। यथा देवता पद को प्राप्त कर सकता है। यह अपूर्व मनन शक्ति अन्य किसी प्राणी में होती नहीं, तिससे वे अपने रक्षा ही में अनुकूल प्रबन्ध नहीं कर सकते। अन्य प्राणियों में मनुष्य से क्या विशेषता है ? अन्य प्राणी जाति में वाणी व्यक्ति व्यापार नहीं है। तिससे द्वैतता की दृष्टि उनमें नहीं, तिससे अपने अपेक्षा किसी को छोटा बड़ा, सभ्य असभ्य देखते नहीं, उनमें नाना मार्ग, नाना रुचि, नाना मति नहीं होती, उनमें वासना नहीं है, न मंसूबों की गढ़न्त होती है। वे

सदैव प्रफुल्लित चित्त रहते हैं । और अपने भर क़ाबू वे किसी के आसृती नहीं होते तथा अपने शक्ति से ही अपनी रक्षा व पालन कर लेते हैं। उनमें घ्राण शक्ति, दृष्टि शक्ति, सीतोष्ण, भूख, प्यास, गर्मी, बरसात, जाड़ा के विकार की सहन शक्ति मनुष्य से ज्यादा होती है, उनमें अग्नि की बलिष्टता रहती है, उनमें मुक़र्रर रोग होता है, मनुष्य में रोम २ में अनन्त रोग हुवा करता है मनुष्य सदृश आसृति, दीन, फिकरी, व्यग्रित, क्षुभित वे कोई भी नहीं रहते, न तृष्णा से अपने जातीय की जान मारते हैं, न वे अपने आप से आत्महत्या करते हैं, वे पेट भरने पर आराम करते हैं, किलोल करते हैं, गाते हैं, उड़ते हैं, उनमें कोई रोगी व दुबला व क्षुभित प्रतीत होता नहीं, वे उपकार करने वाले का हित चाहते हैं। मनुष्य विश्वासघाती होता है तिस-से समस्त प्राणी मनुष्य को शत्रु देखते हैं। प्राणी मात्र के शरीर के हाड़, चाम, रोम, बाल, नख, सींग सब देश के हित में पड़ते हैं और उनमें कतिपय के मल, मूत्र भी दवा के काम आते हैं, किन्तु मनुष्य जो धर्म में स्थित नहीं है जो किसी के काम आता नहीं, उसका जन्म निरर्थक है, इसको भी सभी ने स्वीकार किया है।

हे शिष्य प्राणी मात्र के समान धर्म का प्रसंग तुझे समझाया, अब तू निश्चय कर कि मूर्ति पूजन से भिन्न अन्य दूसरा धर्म कुछ है? मूर्ति पूजा इस शब्द के अर्थ से सभी चक्कर खाते हैं कि यह तो द्वैतता की उपासना है, किन्तु द्वैत कुछ हो तब न द्वैतता की उपासना सिद्ध हो।

प्रेम व स्नेह को दृढ़ करने के निमित्त ही मन्दिर बना के उन आर्य्यों की मूर्ति स्थित हुई है जिनसे समस्त का कल्याण हुवा है। प्रेम व स्नेह बढ़ाने को इससे श्रेष्ठ तरकीब दूसरी नहीं है। विद्वान को अद्वैत शब्द का मुख्य आशय यही समझना चाहिए कि जिस धर्म को अनादि से मनुष्य मात्र करते चले आ रहे हैं। जो धर्म एक के अनुकूल हो व दूसरे के प्रतिकूल हो वह धर्म नहीं है प्रपंच है। अर्थात् मनुष्य में द्वैतता ही की दृष्टि से स्वार्थ तत्परता मिश्रित है। व्यक्ति २ को स्वप्न सृष्टि पृथक २ रूप की व क्रिया की देख पड़ा करती है, क्योंकि व्यक्ति २ की रुचि, भावना तथा संसर्ग व मार्ग भिन्न २ होते व रहते हैं, धर्म व धर्मी को जुदा २ देखते हैं यथा आकाश देख नहीं पड़ता, वायु देख नहीं पड़ता किन्तु उनके धर्म, शब्द व स्पर्श से दोनों का अनुभव होता है। ऐसा ही ईश्वर का धर्म यह विश्वरूप है वैसाही हमारा धर्म ही दो हो देख पड़ता है अर्थात् हम हैं तब देखते, सुनते हैं, हम जब बेहोशी व सुषुप्तिक अवस्था में हो जाते हैं तब तो केवल हमही रहते हैं अन्य व दूसरा कुछ नहीं रहता।

हे विद्वानो द्वैतता के दृष्टि नष्ट करने के ही उद्योग में ज्ञान का आविष्कार हुवा है अर्थात् उसी को ज्ञान प्राप्त हुवा तू निश्चय कर जिसकी द्वैतता की दृष्टि नष्ट हो गई है। जिसकी द्वैतता की दृष्टि नष्ट नहीं हुई उसको तू कदापि ज्ञानी मत निश्चित कर।

अद्वैतता सत्य है, द्वैतताभास सब मिथ्या है, इसी सत्यासत्य का निर्णय व विवेचन करना ही श्रेष्ट पुरुष का कर्तव्य है। असत् का,जो शब्द है वह केवल द्वैत दृष्टि ही के लिये है और तो सब सत्य व नित्य है, इसी पर श्री कृष्ण का वाक्य है।

ना सतो विद्यते भावो ना भावो विद्यते सतः।

ईश्वर दरशन द्वैतता नष्ट होने से ही होता है और ईश्वर के जानने के लिए ही ज्ञान है, तिससे सिद्ध है द्वैतता नष्ट होने तक ही ज्ञान की आवश्यकता है, कारण फिर तो अद्वैतता सिद्ध ही है।

हे विद्वानो यह गुरूपदेश आपके सेवा में भेट करता हूं धर्म निर्णय स्वयम् कर लेंगे। अब व्यवहार से भी समझिये जिस कुटुम्ब में, गोष्टी में, नातेदारी में, जाति में, कम्पनी में महकमे में सभा व समाज में और धर्म में जहां पर द्वैतता का भेद रहता है वहां कदापि अभ्युदय होता नहीं, बिना धर्मावलम्ब हुए देश का सुधार नहीं होता यह सार्वभौम सिद्धान्त है। द्वैतता की दृष्टि का नष्ट होने ही के लिए ज्ञान है अन्य के लिए ज्ञान भी नहीं है।

हे शिष्य धर्मावलम्बी की पहचान को तू निश्चय कर, जो मनुष्य दयालु तबियत नहीं है वह कदापि धर्मावलम्बी नहीं, चाहे वह कैसा ही सभ्य चलनी के आडम्बर क्यों न धारे रहते हों ऐसा तू निश्चय कर।

श्रीमहानुभाव देशभक्ति के सेवा में धर्म निर्णय ग्रंथ भेंट करता हूं, मैं बूढ़ा ५७ वर्ष का हूं तिससे और उपाय से असमर्थ हो पड़ा हूं, मुझे ईश्वर का संकेत हुवा कि महानुभावों को समर्पण कर, तदनुसार करता हूं। अब इस ग्रंथ के प्रचार का भार आप लोगों पर है।

इति गुरूपदेश।

ग्रंथ माहात्म्य।

इस ग्रंथ का साध्य यह है कि शब्द ॐ ही सृष्टि का उपादान कारण, निमित्त कारण, समवाय कारण है और वही विश्व है, यही अद्वैत सिद्धान्त का सार है। और अद्वैत सिद्धान्त की मुख्य उपासना मूर्तिपूजन है, और ईश्वर का मुख्य नाम ॐ ही है, इसी के चिन्तवन से और इसी के जाप से मनुष्य का हृदय पवित्र हो सकता है अन्यथा नहीं।

मैं वैश्य हूं, साधारण अवस्था का हूं, अपढ़ हूं। पहले मैं व्यापार करता रहा अब मालगुज़ारी करता हूं। मुझे जब से होश आया यही स्वभावतः शौक था कि सत् क्या है, असत् क्या है, रोज़गार करता ही रहा इसका सोचना भी जारी रहा और विद्वानों का सत्कार भी करता रहा व उनका मन्तव्य भी निश्चित करता रहा, तिस असर से शिथिलता आई अर्थात् रोज़गार छोड़ दिया, इसके विचार पर बारम्बार सुरत बढ़ती गई, तिस पर प्रणव प्रचार लिखा। लेकिन वह सूक्ष्म शैली का होने

से किसी विद्वान को उसका तत्व समझ में न धसा अब समझाने की फिकर पैठी कैसे समझावें तिस फिकर में जो जो उपाय समझ में आने लगे लिखने लगा। ऐसी तीन पुस्तकें इस विषय में और लिखीं लेकिन पूर्णतया न समझा सका और यह चिंता रही कैसे समझावें परंतु कलकत्ते के कानफ्रेंस में जाने से ज्ञान हुवा कि मनुष्य का मुख्य धर्म क्या है, छानते छानते इस धर्म-निर्णय के मन्दिर का दर्शन हुवा वही यह पुस्तक है। यह ग्रन्थ अकाट्य व अछेद्य है तथा समस्त संकल्पों विकल्पों को ध्वस्त करता है, सम्पूर्ण प्रकार के मत मतान्तरों के झगड़े को निर्मूल व निर्विवाद तथा निरुत्तर करता है जैसे तृण के ढेर को चिनगारी भस्म करती है। इसको शुरू से अखीर तक बारम्बार पढ़ के सुरत पर चढ़ा लेने से स्वयम् ही विद्वान कह उठता है "नास्ति तत्व मतः परम्" और पूर्ण सन्तोष प्राप्त होता है। हे विद्वानो! इसमें मेरी कुछ अद्भुतता नहीं अथवा करतूत नहीं है ईश्वर की इच्छा को देखें यह नियम है। जिस वस्तु का नया आविष्कार होने का जब समय प्राप्त होता है तब किसी व्यक्ति के हृदयस्थ वह सूझ दृष्टिगोचर होती है, जैसे रेल तार Airship आदि ये सिखाने से नहीं उदय हुए स्वयम् उदय हुए हैं। इनकी तरकीब शास्त्रों में नहीं है जो सिखाई जावे। इसी प्रकार इस साधारण द्वारा आज धर्म का निर्णय प्रादुर्भाव हुआ जो अनादि से स्थिर नहीं हुआ था, आज वे सब झगड़े निश्शेष होते हैं, इति।

इस ग्रन्थ में वाच्य भेद, शब्द, अर्थ, भेद शैली दोष के अतिरिक्त तत्व के लक्ष्य पर दृष्टि कीजिए तब धर्म मन्दिर का आप को भी दर्शन होगा।

मानव धर्म।

देश हितेच्छु विद्वानों का मुख्य धर्म यही है कि देश उन्नति हेतु सर्व वर्णों को स्वे स्वे धर्म कर्म में दृढ़ता पूर्वक स्थित करें और ऐसा उपदेश करें जिससे मूर्तिपूजन के रहस्य सुगमता से सर्व साधारण के समझ में आवे। सर्व धर्म में विश्वासी हो वा विरोध व कूट फूट निर्मूल हो और मनुष्य अपने कर्तव्य को समझे कि मेरा जन्म मनुष्य में हुवा है सो देशहित के लिए हुवा है। जिस मनुष्य से किसी प्रकार देश का हित नहीं होता उसका जन्म व्यर्थ है और व्यर्थ शास्त्र पढ़ने से देश का अभ्युदय नहीं होगा उसके एवज में इतिहास सम्बन्धी कला कौशलो विद्या का प्रचार बढ़ावें। इति।

स्तुति।

आप्तों ने विराट् के रूप को इस प्रकार बोध कराया है—विश्व के समस्त शकलों के एक रूप को विराट कहते हैं। अर्थात् जिस प्रकार समस्त प्रकार के पदार्थ के शकलों के पृथक् २ अवयवों प्रति अवयवों में छोटे बड़े

अनन्त चिन्ह भीतर बाहर केला के थम्भवत् व्याप्त हैं, उसी प्रकार यह विश्व है जो नाना प्रकार चित्र विचित्र अनन्त शकलों के चिन्ह से व्याप्त है। यथा आकाशस्थ सूर्य्य आदि ग्रह व नक्षत्र तथा पार्थिव पदार्थ में किस्म २ के प्राणियों की शकलें धातु की शकलें मूल की शकलों व पर्वत समुद्र आदि सब उसके शकल में समाया है। इसी विश्व की शकलों से ही जगत् के सारे काम स्वयम् हुआ करते हैं, जैसे गति शक्ति गर्भ के भीतर अवयव आदि बनाती है गति को ऐसी उत्कृष्ट शक्ति का अनुभव करके स्तुति करते हैं। हे विश्व रूप विराट् तेरे गति की महिमा कहने की क्या किसी को सामर्थ्य है। सर्व भाषा के वर्णमाला में ५० अक्षर से ज्यादा की कोई वर्णमाला नहीं, इन ५० अक्षरों में मनुष्य कितनी संज्ञा कल्पना कर सकता है सो सब समझ सकते हैं। उसके गति की गणना की उपमा यदि समुद्र की रेणुका से अथवा आकाशस्थ तारों से दी जावे तो भी नेति नेति है इस लिए वे नेति नेति कह के तेरे ॐ के नाम के जप व चिंतवन में मग्न हुए हैं और कैवल्य पद को प्राप्त किया है। हे विद्वानो! जो वास्तव में अपने को पवित्र बनाना चाहते हो तो अवश्यमेव ॐ का ही चिन्तवन ॐ की ही भावना करो, इसी के जपने से मनुष्य के हृदय पवित्र हुआ करते हैं अन्य उपाय नहीं। वासना छूटने ही को मुक्त कहते हैं, बासना ॐ के भावना से ही नष्ट होती है। अन्य उपाय नहीं, नहीं, नहीं।

मैं प्रार्थना करता हूं कि जिस प्रकार तू ने धर्म निर्णय के मन्दिर का दर्शन दिया वैसा ही मनुष्य में प्रेम व स्नेह बढ़ावे, और तेरी भक्ति दृढ़ करावे ।

इति ।

अलख एक नाम ॐ कारा । शब्द को भूल मन प्यारा ॥
जो दर्शन कीन्हा चहिए तो दर्पण माजत रहिए ।
जो दर्पण लग गई काई तो दर्शन किया न जाई ॥
अन्धयारे दीपक चहिए तब वस्तु अगोचर पइए ।
जब वस्तु अगोचर पाई तब दीपक दिया बुझाई ॥
का पढ़िये का गुनिए का वेद पुराणा सुनिए ।
नहिं लिखे पढ़े कुछ होई हम सहजै पावा सोई ॥
वही राम हम पावा आपुहि आप बुझावा ।
जो इस पद नाहिं समाना सो मूरखहार सयाना ॥

लाभस्तेषां जयस्तेषां कुतस्तेषां पराजयः ।
हृदयस्थ स्तु यस्तेषां संस्थापनो हरिः ॥

इति श्रीहरिदास विरचिते धर्मनिर्णयग्रन्थे गुरूपदेश-
मानवधर्मग्रन्थे माहात्म्य स्तुति वर्णनोनाम
चतुर्दसमुल्लासः समाप्तः इत्यलम् ।

श्री शुभम् भूयात् ।